ओ३म्

कल्याण-सुख-आनन्द के स्रोत

सूर्या देवी चतुर्वेदा

ओ३म्

आचार्या सूर्या देवी

सन् १९५८ में उत्तरप्रदेश सोरों एटा में जन्म प्राप्त, आपने पूजनीया गुरुवर्या सुश्री डॉ. प्रज्ञा देवी जी तथा पू. सुश्री आचार्या डॉ. मेधा देवी जी से वाराणसी में आकर व्याकरण-दर्शन-निरूक्तादि का गहन अध्ययन करके व्याकरणाचार्य सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण किया। वैदिक गवेषणा में आप सर्वदा तल्लीन रहती हैं। आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर सम्पूर्ण जीवन 'पाणिनि कन्या महाविद्यालय' वाराणसी में ही पठन-पाठन करते हुए अर्पित कर दिया है।

ओ३म्

स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायम्० ।। अथर्व० १६।८।३।।

(कल्याण का सर्वत्र विस्तार हो, मेरी सुबह-शाम सुहावनी हो)

कल्याण-सुख आनन्द के स्रोत

आचार्या सूर्या देवी चतुर्वेदा

●

पाणिनि कन्या महाविद्यालय
वाराणसी

प्रकाशक :
श्री जिज्ञासु स्मारक पाणिनि कन्या महाविद्यालय
तुलसीपुर, वाराणसी-१० (उ.प्र.)
दूरभाषांक :- ०५४२ - २३६०३४०

प्रथम वार - १०००
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, नव विक्रमी संवत्सर २०६०
२ अप्रैल सन् २००३

मुद्रण में उदार सहयोगिनी-
पूज्या माता श्रीमती ईश्वरी आर्या जी
'शास्त्री भवन' पटना (बिहार)

मूल्य - ६०/- रु.

मुद्रक :-
श्री विष्णु प्रेस
कतुआपुरा, वाराणसी

ओ३म्

विभूतिरस्तु सूनृता

मैं आज बहुप्रतिभासम्पन्न प्रिय सूर्या जी के निरन्तर प्रस्तुत होते हुए चिन्तन-मनन को देखते हुए अत्यन्त प्रसन्न होकर वेद के शब्दों में यही कह सकती हूँ कि **विभूतिः अस्तु सूनृता** (साम० १६००) **वेदमयी प्रिय सूर्या देवी** का अजस्र वेदानुशीलन का जो यह व्रत है वह **विभूतिः** = समृद्धि रूपी व्रतशीलता, **सूनृता अस्तु** = सर्वदा बहुत मधुर, यशस्विनी, सत्यवादिनी हो।

पूजनीया बड़ी बहिनजी (**महान् वेदविदुषी आचार्या डा. प्रज्ञा देवी जी**) की प्रखर वाणी हमसे दुर्भाग्यवश ६ दिस. १९९५ में असमय ही छिन गई किन्तु अपनी अन्तेवासिनी शिष्याओं को जो गहन शास्त्रानुशीलन की आर्ष दिशा उन्होंने दी है उस अनुपम देन को फलीभूत होते जब देखती हूँ तो परम सन्तोष होता है। प्रतीत होता है उनका आत्मा इनमें समाहित हो गया है। मैं अपने मन्त्रमुग्ध भावों को वेद के शब्दों में ही पुनः कहूँ कि-

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमस्रवन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ।।

(अथर्व० १८। ३। २४)

अर्थात् - हे जगत् के स्वामिन् ! (**ते**) आपके वैदिक निर्देशों के अनुसार (**अकर्म**) हमने कर्त्तव्य कर्म किये हैं अतः (**स्वपसः अभूम**) हम सुकर्मी हो गये हैं। (**ऋतम् अस्रवन्**) वैदिक सच्चाइयों का हमने इस प्रकार प्रसार किया है जैसे (**विभातीः उषसः अस्रवन्**) चमकती उषा की किरणें आकाश में फैलती हैं।

पाठक देखें कि मन्त्र का पूर्वार्ध प्रिय सूर्या जी सदृश विदुषी जनों के कृतित्त्व का अनुमोदन कर रहा है। और उत्तरार्ध भी घटित हो रहा है क्योंकि जब **देवाः यत् अवन्ति** = उच्चकोटि के जनों ने उस कृतित्त्व को सराहा, थपकी दी, बढ़ाया तब **तत् भद्रम् विश्वम्** = वह सब कुछ सुखदायी-कल्याणकारी हो गया। वस्तुतः लेखक या वक्ता का उपहार

सज्जनों की प्रतिक्रिया ही है। यह आत्मतोष-आत्मप्रसाद वही अनुभव कर सकता है कि जिसने मथ-मथ कर अमृत परोसा हो और उत्तम परिणति देखकर ऐसे अध्यवसायी के श्रम बिन्दु भी शीतल-सुखद हो जाते हैं। और तभी प्रसन्नचित्त होकर ऐसी विदुषी देवियाँ **सुवीराः** = सुवीर, धर्मवीर वनकर **विदथे** = ज्ञान गोष्ठियों में **(बृहद् वदेम)** बहुत उत्तम प्रतिपादन कर रही हैं, करती रहेंगी यह वेदवाणी का उद्घोष है।

आज पाठकों के समक्ष अमृत माला का यह द्वितीय पुष्प **'कल्याण सुख आनन्द के स्रोत'** नाम से प्रस्तुत हो रहा है। तृतीय पुष्प भी **'वेदादि सिद्धान्त शंका समाधान'** नाम से संकीर्तित प्रेस में दिया जा चुका है जहाँ से विकसित होकर वह शीघ्र ही आपके हाथों में पहुँचेगा। **'पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी'** के विगत वार्षिकोत्सव में ६ दिस. सन् २००२ को **'अन्तरिक्ष वसिष्ठ ब्रह्म आदि विज्ञान'** नाम से प्रथम पुष्प लोकार्पित हो गया था, उस समय चाहते हुए भी अत्यन्त कार्यभार होने से तीनों को एक साथ हम प्रकाशित नहीं कर सके। अब इस समय यह सुन्दर व्यावहारिक रचना आपके हाथों में है। कसौटी पर आपने इसे परखना है।

सचमुच सुख और आनन्द हवा के झोंके की तरह हैं जो स्वयं ही आते-जाते रहते हैं, तलाशने से नहीं मिलते। जीवन का दूसरा नाम कर्त्तव्य पालन है। उन कर्त्तव्यों को हँसते-हँसते निभाने वाला ही सुखी कहलाता है। उस कर्त्तव्य पालन के मार्ग में जो सुख मिल जाये उससे ही हमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। अस्तु।

विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु । (अथर्व० १६। ६। १२)

समस्त देव मुझे सुख प्रदान करें।

२ अप्रैल २००३
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा
नव विक्रमी संवत् २०६०
आर्यसमाज स्थापना दिवस

मंगलाभिलाषिणी -
मेधा देवी, प्राचार्या
पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी।

ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

विनिवेदनम्

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च,
नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ।।

यजु० १६।३०॥

वर्तमान समय में राष्ट्र की, समाज की, परिवार की, व्यक्ति की आवश्यकतायें एवं व्यवस्थायें प्राचीन समय की अपेक्षा विभिन्न हैं। शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन, आचार-विचार, भोजन-पान आदि में बहुत सी विविधतायें हैं। कल्याण-अकल्याण, सुख-दुख, आनन्द-अनानन्द, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, आदि द्वैधताओं के मध्य यह संसार चल रहा है, सभी इन द्वैध परिस्थितियों से सरकते हुए जीवन जी रहे हैं और प्राचीन परम्पराओं को खो रहे हैं। बिना लक्ष्य, बिना सीमा के बस भाग रहे हैं, किसी को ज्ञात नहीं, हम कहाँ जा रहे हैं, और क्या पा रहे हैं।

इन विषम परिस्थितियों के रहते '**कल्याणम् अवाप्नुहि, सुखमेधि, आनन्दो भवतु**' आदि आशीर्वाद मात्र शब्द रूप में ही प्रयुक्त हो रहे हैं। कल्याण, सुख, आनन्द का नाम तो सभी सुन रहे हैं, पर हस्तगत नहीं कर पा रहे, सभी दुःखी, हताश, निराश हैं, आशा की किरण दिखाई नहीं दे रही है। दूसरी बात है कि हमारे सामने सुखानुभूति कराने वाले आधुनिक संसाधन तथा विज्ञान की टेक्नोलॉजी है, ऐसे समय में वेदों की बात कहना अरण्यरोदन के सदृश प्रतीत होती है, पुनरपि वेद की आज्ञा है, कि प्रत्येक

वेदज्ञाता का कर्तव्य है वेद के तथ्यों को तथा वेद के रचयिता का बखान करना चाहिये-

यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ।

साम० ५९४ ॥

अर्थात् परमात्मा कहता है कि जो मुझे देता है वह निश्चय से ही मुझे प्राप्त करता है, रक्षित होता है, जो केवल पृथिवीस्थ अन्न को खाता है, यानी मुझ अन्न को नहीं खाता, उसे मैं खा लेता हूँ ।

परमेश्वर की इस आज्ञा का पालन करते हुये इस पुस्तिका में **कल्याण-सुख-आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है,** इसका विवेचन किया गया है। ये दृश्य पदार्थों की भाँति वस्तु रूप नहीं है, मनुष्य की आत्मा को संवेद्य होने वाले गुण हैं, आत्मा में ये गुण वेद की आज्ञा पर चलने पर स्वतः ही आ जाते हैं।

मैं अपने विचारों, भावों को शब्द रूप दे पाई हूँ, उसकी क्षमता और साहस को प्रदान करने वाली मेरी पूजनीया, वन्दनीया, प्राणरूपा **आचार्या मेधा देवी जी** हैं। आपकी सत्प्रेरणा के फलस्वरूप ही इस कार्य में मैं समर्थ हो सकी हूँ, मैं अपनी पू० आचार्या जी को क्या चढ़ाऊँ सब कुछ आचार्यप्रवर का ही है। बस आपके आर्शीवादों की चकोरी बनती हुई यह पुस्तिका आपके समक्ष है।

पुस्तिका की मूल प्रति (प्रेस कॉपी) तैयार करने का कार्य स्नेहभाजा ब्रह्मचारिणी द्वय किरण, दीपमाला ने अत्यन्त उत्साह, निष्ठा, सुशीलता के साथ किया है, साथ ही जिन सुयोग्य, **ब्र० हेमवती आर्या, ब्र० चेतना**

विभूति, एवं ज्योत्स्ना कुमारी ब्रह्मचारिणियों ने बड़े धैर्य और लग्न से मुद्रण पत्र देखने में श्रम किया है। मेरी इन ब्रह्मचारिणियों के प्रति अनन्त शुभकामनायें ग्रथित हैं। भूरेश से प्रार्थना है ये ब्रह्मचारिणियाँ उन्नत शिखर पर पहुँचें तथा अपने जीवन को आर्ष वेद वेदाङ्गादि ज्ञान के प्रचार-प्रसार में लगावें, ईश तथा ऋषिभक्त बनें।

मेरे चिन्तन को पुस्तिका रूप देने का सुझाव और अर्थ सहयोग जिस महनीय व्यक्तित्व ने किया है वे हैं मेरी मातृरूपा श्रद्धेया **श्रीमती 'ईश्वरी देवी आर्या'** पटना धर्मपत्नी **श्री पं० राम नारायण शास्त्री जी**। आपकी हार्दिक इच्छा थी मेरे द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत जो चिन्तन थे उनको पुस्तकाकार रूप दिया जाये। इस पूर्णता के लिये आपका किन शब्दों में धन्यवाद करूँ, आपका आशीर्वाद बना रहे यही प्रभु से नम्र निवेदन है।

ऋषिमनुगता-
सूर्या देवी चतुर्वेदा

नव संवत्सर वि०सं० २०६०
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा
१२८ वाँ आर्य समाज स्थापना दिवस
२ अप्रैल, २००३ ई०

पाणिनि कन्या महाविद्यालय
वाराणसी-१० (उ०प्र०)

ओ३म्

यथाख्या

पृष्ठ

३ भागों में विभक्त हुए इस अमृत-माला के लेख रूपी पुष्प प्रायः आर्य जगत् की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सुगन्ध देते रहे, उससे हर्षित होकर आर्य जनों ने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की उसका भी कुछ उदाहरण पाठक देखें-

पत्रों के दर्पण में

१६-७-६६
शिलांग

परम आदरणीया आचार्या जी!

सप्रेम नमस्ते।

२३ जून ६६ के सार्वदेशिक में प्रकाशित **"देह भस्मीभूत होता है, दफ़न नहीं"** शीर्षकान्तर्गत आपका लेख पढ़ा है। यही मेरे लिए प्रथम हो, ऐसा नहीं है, समय-समय पर प्रकाशित आपके अन्य लेख भी मैंने पढ़े हैं। जब-जब पढ़ा मन प्रफुल्लित होता रहा और परमात्मा को, **ऋषि दयानन्द को, स्व० आचार्या को** तथा **आपको** धन्यवाद देता रहा हूँ। आप भ्रमित मानवता के जीवन पथ को वेदज्ञान से सदैव आलोकित करती रहें निज कुल को धन्य कर **इस युग की आप गार्गी बनें** ऐसी कामना करता हूँ। वैदिक व्योम की आप एक उदीयमान नक्षत्र हैं।

आपका भ्राता
ज्ञान सिंह

१६-१०-६६
शिलांग

प्रिय बहिन!

शुभाशीष।

आपका पत्र मिला महान् प्रसन्नता हुई। सर्वप्रथम मैं स्पष्ट करूँ कि आपके पत्र के 'भगिनि' सम्बोधन (स्वयं के लिए) ने मुझे इतना प्रभावित किया है कि आपके लिए प्रयुक्त होने वाला आचार्या सम्बोधन मैंने छोड़

दिया और यही बहिन शब्द प्रयोग किया और भविष्य में भी यही लिखूँगा।.....................।

मैं सचमुच आपके लेखों से अत्यधिक प्रभावित हूँ। आपकी तपस्या, आपकी प्रतिभा निःसन्देह राष्ट्र की अमूल्य निधि है। मैं आपके उज्जवल भविष्य एवं दीर्घायु की कामना करता हूँ। मुझे दो तीन बार **स्व० आचार्या प्रज्ञा** के दर्शन हुए थे। वह मेरा सौभाग्य था, जब आर्यसमाज हनुमान रोड दिल्ली में मैंने उनसे बातें की थीं, सम्भवतया उस समय आप भी रही होंगी।....................।

"देह भस्मीभूत होता है" यह लेख विश्व स्तर का है। भारतीय जाने अनजाने यही करते हैं परन्तु मदमस्त पश्चिमी देशवासी मतों के कारण कब्रों में पड़े रहते हैं यह उनकी आँखें खोल सकता है।

आपका भ्राता
ज्ञान सिंह

अधिकारी सर्वेक्षक
नं० १२ डी०ओ० (पूर्वोत्तर वृत)
सर्वे ऑफ इण्डिया
शिलांग, मेघालय-७९३००१

❥❥❥

६-६-९६

प्रियवर सुश्री सूर्या जी,

सप्रेम नमः।

आज ही वेदवाणी मिली और मैं आपका लेख **"देह भस्मी-भूत होता है"** आद्योपान्त पढ़ गया। लेख के लिए धन्यवाद।

वैदिक सिद्धान्त के प्रतिपादन में आपने अच्छे तर्क एवं प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। ऐसे सैद्धान्तिक लेख कम ही दृग्गत होते हैं। **मान्य बहिन जी की** परम्परा एवं मान्यताओं को आप सबके द्वारा वृद्धि एवं पुष्टि करते

हुए देखकर अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है। आप सबके कारण ही वे भी अमर हैं। आदितः सम्बद्ध विवेचना के लिए पुनः आपको धन्यवाद।

आपका ही
प्रशस्यमित्र शास्त्री

बी. २६, आनन्द नगर
(जेल रोड) रायबरेली।

१-११-९६

सम्माननीया परमविदुषी बहन सुश्री सूर्याकुमारी व्याकरणाचार्या!

सादर नमस्ते।

अत्र कुशलं तत्रास्तु के पश्चात् विशेष निवेदन है कि विगत ६ अक्टूबर के "**आर्य-जगत्**" के अंक में **आपका वह लेख "पितर प्रेत एवं श्राद्ध क्या है"?** प्रकरण, प्रमाण, उपमा और समीक्षायें अर्थात् सम्पूर्ण लेख पढ़ा बहुत ही अच्छा लगा। ठीक ऐसे ही वर्षों पहले **स्व० बहिन प्रज्ञा देवी** के भी कभी-कभी लेख प्रकाशित हुआ करते थे, उससे हम सामान्य पाठकों को बहुत ही सहारा मिल जाया करता था। मैं आशा करता हूँ कि आप भी समय-समय पर कुछ-कुछ ऐसे ही जटिल विषयों पर लेख प्रकाशित करने का क्रम जारी रखें। जिससे सामान्य वैदिक-धर्मावलम्बियों को निरन्तर लाभ पहुँचता रहे।..............।

जब कभी वाराणसी जाने का सौभाग्य उपस्थित हो सकेगा तो मैं अवश्य आपसे मिलूँगा।

आपका विश्वासी
मदनलाल सत्यार्थ शास्त्री

P.O. Tingkhong - 786612
Dist. Dibrugarh (Assam)

श्रद्धेय बहन जी!

सादर सप्रेम नमस्ते।

आशा है आप ईश्वर की कृपा से सानन्द होंगी। विशेष आपका दिया हुआ 'वेदवाणी' में एक लेख "पितर प्रेत एवं पिण्डदान" को पढ़कर विशेष जानकारी इस सम्बन्ध में प्राप्त हुआ। ....।

आज अनेक पत्रिकाओं में जो लेख निकल रहा है वह अन्धकार मिटाने वाला नहीं होता है। आपने परिश्रम से पितर के सम्बन्ध में जो लेख लिखे हैं वह बहुत से अन्धकार में फंसे लोगों को अन्धकार से प्रकाश की ओर अवश्य ले जाएगा। ....।

बहिन जी, आपके लेखों से बहुत सन्तुष्ट हूँ। मुझे आशा है इस लेख को पढ़कर जनसाधारण को विशेष ज्योति मिलेगी। साथ-साथ आपसे आग्रह है कि आप विदुषी हैं आप अपनी विद्वत्ता से लोगों को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने का अन्य लेख भी वेदवाणी में देकर दयानन्द का कार्य पूरा करेंगे।...............।

आपका भाई
यदुनन्दन आर्य

ग्रा0पो0 मासुमगंज
जिला मुंगेर (बिहार)
(वेदवाणी ग्राह0 नं.३५३)

१३-६-१९९७
नागौर

आदरणीया!

सार्वदेशिक १-६-९७ अंक में "ईशान कोण का यज्ञीय कलश" लेख पढ़ा। प्रसन्नता है कि ऋ०द. अनुगामियों में श्रौतयाग शास्त्र के अध्येता अति अल्प ही सही, हैं तो।....................।

विनीत
रामस्वरूप

पर्यावरण सुख
गोलाई–रामरणामार्ग
आँवला ३०५०२६, नागौर

❧❧❧

३–६–९८

पूज्या बहिन मेधा जी!

सादर नमस्ते।

सूर्या जी के गवेषणात्मक लेख के लिए उनका साधुवाद। प्रभु उन्हें स्वस्थ दीर्घायु दे, जिससे वे इसी प्रकार साहित्य रचना करती रहें।..........।

आपका भाई
त्रिलोकी नारायण मिश्र

देहली–११००९२

❧❧❧

१८–७–२०००

आदरणीया बहिन जी!

सादर नमस्ते।

आपके लेख 'वेदवाणी' में प्रायः पढ़ने के लिए उपलब्ध होते रहते हैं। आपका व्याकरणज्ञान, विषय की गहनता और व्याख्या श्लाघनीय होती है। आपका एक आलेख वेदवाणी के वेद–परिशीलन विशेषांक में पढ़ा

जिसका शीर्षक है "**वैदिक सुरा**"। लेख तथ्यपरक तो है ही आपकी विशद व्याख्या भी उत्तम है।.....................। आपका विषय पर अधिकार है।....................।

शुभेच्छु
रमेश आर्य

डा० रमेश चन्द्र आर्य
लुहारी, जिला–बागपत
उ०प्र०–२५०६११

२७–३–२०००

मान्या बहन आचार्या सुश्री सूर्या देवी जी!

सादर नमस्ते।

आशा है प्रभु कृपा से आप एवं आपकी सहयोगी बहनें आनन्दमंगल से होंगी। आर्यजगत् के ताजा अंक में आप द्वारा लिखित लेख "**आर्यो सावधान! दयानन्द देख रहे हैं**" बहुत सारगर्मित और मननशील, आचरणशील लेख है। बहन जी! आपने समय की नजाकत को समझते हुए तथा आर्यसमाजों द्वारा संचालित, दयानन्द नामधारी विद्यालयों, डी.ए.वी. संस्था द्वारा संचालित विद्या के केन्द्रों की व्यवस्थाओं पर तीक्ष्ण प्रहार किया है जो कि सुधार की दृष्टि से मानने योग्य है।

यदि डी.ए.वी. शिक्षण संस्थायें इन बातों को अमल में ले आवें तो काफी सफलता मिल सकती है। गुरुकुलों की कार्य प्रणाली और व्यवस्थायें भी चरमरा चुकी हैं क्योंकि गुरुकुलों और शिक्षण संस्थाओं के संचालक ही अपने जीवन में ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज को नहीं ढाल सके।

आर्यजगत् पत्र डी.ए.वी. से सम्बन्धित है जहाँ केवल अंग्रेजीयत का बोलबाला है आपके लेख का उन पर प्रभाव पड़ने से बहुत उपयोगी

रहेगा। आपके लिखने के प्रयास को सफलता मिलेगी। लाखों आर्यों के मन की अभिलाषा की पूर्ति होगी। हम सभी हृदय से आपके ऋणी रहेंगे। आपकी कलम में वो शक्ति है जो यह पुण्य का कार्य कर सकती है। भगवान् अधिकारियों को सुबुद्धि दे और आप जैसे मनीषी बहन का कहना मान लें।

लेखन के लिए पुनः बधाई।

धन्यवाद!

आपका अपना भाई–
राजेन्द्र आर्य

हाँती, (हरियाणा)
१२५०३३

***

१०-१२-२००१

प्रिय आयुष्मती बहिन!

सप्रेम वन्दे।

आर्य-प्रसंग अथवा **आर्यागमन** पर आपका वैदुष्यपूर्ण लेख मिला, पढ़कर परम प्रसन्नता हुई और प्रभूत ऊर्जा मिली। सतर्क एवं सप्रमाण प्रस्तुति बहुत बल देती है। मैं आपका लेख बार-बार पढ़ रहा हूँ (बार-बार पढ़ने लायक है ही, किसी के लिए भी) प्रमाण-पुष्ट विचार का जादू किसी के भी सिर पर चढ़कर बोलेगा।..............।

एक शोधकर्ता को ऋग्वेद की जिस ऋचा एवं उसके अर्थ की तलाश थी, वह उन्हें आपकी लेखनी ने आपूर्त्त कर उनकी अड़चन दूर कर दी, इससे मैं गौरवान्वित हुआ, क्योंकि अन्ततः मेरी ही बहन ने उनकी दीर्घ लम्बित समस्या का समाधान दिया।............।

स्नेहेप्सु–
रामाश्रय

आरोग्य मन्दिर

११-६-२००१

नमस्ते!

आप द्वारा दत्त पुस्तक "त्रिपदी गौः" पुस्तक पढ़ी, जिसमें आपकी विद्वत्ता एवं निपुणता परिलक्षित हो रही है, कभी-कभी आपके लेख यज्ञ-सम्बन्धी भी पढ़ने को मिलते रहते हैं।................।

इस ऋषिकर्म को करते रहें किसी प्रलोभन में न फंसें यही ईश्वर से प्रार्थना है।

आपका-
ब्रह्मानन्द

आचार्यकुल ऋतस्थली चैरिष्ट्र०
पो० मेघाखेड़ी
मुजफ्फर नगर-२५१००१

३०-६-२००१

मान्यवर बहिन जी!

सादर नमस्ते।

मैं वेदवाणी का वर्षों से ग्राहक हूँ। इस पत्रिका में आपके लेख **"वेदान्त और दयानन्द"**, **"आरक्षिका-नारी"** और **"ओ३म् का विधान कहाँ"**? आदि लेखों को पढ़ने व मनन करने का मौका मिला। आप जो वैदिक शब्दज्ञान द्वारा यथार्थ बातों का सुन्दररूप से दिग्दर्शन कराती रहती हैं वह सराहनीय है। प्रभु आपको स्वस्थ जीवन, समृद्ध तथा सुख शान्ति बनाए रखे।...............।

आपका शुभेच्छुक भाई-
विजयशंकर

वास्ते- गोपी केवुल सेन्टर
मोहल्ला- काजीपुर, पोस्ट-बांकीपुर
जिला-पटना-४, ८००००४ बिहार

१८-५-२००१

आयुष्मती सूर्या कुमारी जी!

शुभाशीष नमस्ते।

आपके अनेकों पत्र-पत्रिकाओं में मैंने **अनेकों लेख पढ़े हैं।** आपके विद्वत्तापूर्ण लेखों को पढ़कर मन-प्रसन्न होता है। आज खरी-खरी बात सुनाने और लिखने वाले बहुत कम हैं। सत्य को स्पष्ट करने के लिए साहस की आवश्यकता है। **आपके लेखों में** मुझे यह विशेषता नजर आयी है।

मैं देखता हूँ और आपको भी मालूम है कि आर्यसमाजों में कूड़ा करकट जमा होता जा रहा है। न जमीन प्रर सफाई है न दिल व दिमाग में पवित्रता है, आर्यसमाज के भवन बन रहे हैं परन्तु भावनायें गिर रही हैं। ....: ऐसी स्थिति सोचकर ही रह जाता हूँ।

मैं आपकी खुशहाली और सौभाग्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

शुभेच्छु
देवराज आर्यमित्र

आ.स. कृष्णानगर
दिल्ली-५१

❦❦❦

१४-५-२००१

आदरणीय बहन सूर्या जी!

सादर नमन।

मधुर लोक के २२ अप्रैल २००१ के अंक में **नारी आरक्षण के बारे में** आपका आसवचनीय लेख पढ़ा। यह निबन्ध वेदविहित विचारों पर आधारित है जो निश्चय ही नारी समाज को गौरवान्वित कर रहा है परन्तु अफसोस यह है कि वैदिक काल और आज के समय में जमीन आसमान

का अन्तर है। परिस्थितियाँ नारी के प्रतिकूल हो गई हैं। वैदिक ऋचाओं से हमें अपना आदर्श मिल सकता है। मनोबल को उठाने तथा अपने अतीत पर इतराने के लिए यह लेख बहुत अच्छा है। आप एक विदुषी तथा भारतीय संस्कृति की धारक हैं। बधाई स्वीकार करें।

सादर-
राजेश्वरी शांडिल

प्रधान सम्पादक, भोजपुरी
लोक ए-१४, माल एवेन्यु कालोनी
लखनऊ- २२६००१, फोन नं०- २२२४०३३

१-८-२००१

पूज्या बहिन मेधा जी!

सादर सस्नेह नमस्ते।

......................। इधर समय-समय पर सूर्या जी के नीर-क्षीर विवेक पूर्ण लेख पढ़ने को मिलते रहने के कारण वे तो मेरे मन मस्तिष्क में छाई रहती हैं।...............।

आपका
देवनारायण भारद्वाज

वरेण्यम् एम.आई.जी. ४५ पी
अवन्तिका कालोनी,
रामघाट मार्ग, अलीगढ़

१८-८-२००१

मान्या आचार्या पुत्री मेधा जी!

सस्नेह अभिवादन।

............................। पुत्री सूर्या तो एक विदुषी बेटी है। उसके लेख वेदवाणी में पढ़ता रहता हूँ। ये लेख वैदुष्य से भरे रहते हैं। बहुत ही

प्रसन्नता होती है।..................।

शुभाकांक्षां
ठाकुरदास बत्रा

७८ सुखदेव नगर,
पानीपत (हरियाणा)
१३२१०३

२६-३-२००२

प्रिय भगिनि सूर्या जी!

नमस्ते।

महोदया! आपका लेख युवा वर्ग समाज के लिए समस्या क्यों बना? मैंने आर्यमित्र अंक ७ एवं ८, दिनांक १७-२। एवं २४-२-०२ में वाचन किया। लेख आपका अतीत सटीक है। मुझे पढ़कर बहुशः प्रसन्नता हुई।........................।

-धन्यवाद

भवदीय
हीरालाल आर्य

प्रधान आर्यसमाज रेवाड़ी
(हरियाणा)

३१-५-२००२

सेवा में,

श्रद्धामयी बहिन मेधा जी व्याकरणाचार्या!

सस्नेह नमस्ते।

......पत्रिकाओं में प्रिय बेटी सूर्या के लेख पढ़कर मन अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ। ऐसा लग रहा है स्व० डॉ. बहिन प्रज्ञा देवी जी की शिष्याएं

उनके नाम को और **जिज्ञासु जी** के नाम को सदैव रोशन करती रहेंगी। **प्रिय बेटी सूर्या** को बहुत-बहुत सस्नेह, मेरी ओर से आशीर्वाद दीजिएगा। इसी उपलक्ष्य में एक छोटा सा गीत लिखकर भेज रहा हूँ।................।

भवन्निष्ठ

वृजपाल शर्मा कर्मठ

कम्हेड़ा-पो. तुगलकपुर
मुजफ्फर नगर (उ०प्र०)
२५१३१०

✽✽✽

आदरणीय दीदी!

सादर नमस्ते।

आपके लेख मैंने बहुत से पढ़े हैं। मैं आपसे एवं आपके लेखों से इतनी प्रभावित हूँ कि जी चाहता है कि आपसे मिलकर खूब बातें करूँ। कुछ अपने बारे में भी लिखें।.................।

आपकी

अनुपमा

R.C. Raj,
N. Kothi,
Jargawon (BSR) 202399 U.P.

✽✽✽

इसके अतिरिक्त अन्यान्य सज्जनों ने, बहिनों ने हृदय से विभिन्न रचनाओं को भूरिशः सराहा, साधुवाद दिया और सफलता की प्रार्थना की है उनमें हैं-

सुश्री अरुणा आर्या रायपुर, **ब्र० राजेन्द्रार्य** शक्तिनगर सोनभद्र, श्री **राधेमोहन जी** जौनपुर, श्री **हरिश्चन्द्र जी** श्रीवास्तव अहमदाबाद, श्री प्रो० **चन्द्रप्रकाश जी** आर्य करनाल आदि।

भूरिशः साधुवादाः!

✽✽✽

कल्याण-सुख-आनन्द के स्त्रोत कौन ?

आज घर, परिवार, समाज, राष्ट्र सभी **'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' 'त्राहि मां त्राहि मां त्राहि माम्'** की गुहार लगा रहे हैं। दूर-दूर तक शान्ति का छोर दिखाई नहीं पड़ रहा है यानी धरातल से कल्याण, सुख, आनन्द उठ चुके हैं ऐसा लग रहा है। कल्याण, सुख, आनन्द भूतल की ऐसी वस्तुएं हैं, जिन्हें सभी चाहते हैं, ऐसा कोई नहीं है, जो न चाहता हो। ये सुनने में जितने सहज, सरल प्रतीत होते हैं, उतने प्राप्त करने में कठिन हैं। इसका कारण है हमने इन्हें समझा नहीं है, अन्य पदार्थों की भाँति इन्हें भी समझ लिया है कि जैसे हमारी कार्य सिद्धि के खटिया-मचिया, गाड़ी-घोड़ा , सोना-चाँदी, आदि भौतिक साधन हैं, वैसे ही कल्याण, सुख, आनन्द भी भौतिक वस्तु हैं, यह समझा है। **हम भूल गये कि पृथ्वी के समस्त पदार्थों से कल्याण होता है, समस्त जीवों के स्नेहिल सम्बन्धों से सुख होता है, और सृष्टि की रचना करने वाले परमात्मा का प्रतिक्षण एहसास करने से आनन्द होता है।** और हाँ यह भी भूल गये, कि इनमें आनन्द सर्वोपरि है, क्योंकि जो आनन्द से युक्त है वही सुख की अनुभूति कर सकता है, और सुखी व्यक्ति ही कल्याण को प्राप्त करता है एवं कल्याण हो रहा है ऐसा विचार रखने में समर्थ होता है और शान्ति को पाता है।

सम्प्रति आनन्द, सुख, कल्याण सभी अलभ्य वस्तु बन गये हैं इनकी प्राप्ति के लिये गरीब हों, अमीर हों, नौकर हों, अफसर हों, मन्त्री हों, सन्त्री हों, सभी तीर्थों में, गंगा तटों में, मठों में, आश्रमों में, भटक रहे हैं, परिक्रमा कर रहे हैं, गुरुओं के चरण पखार रहे हैं। गुरु भी आनन्द, सुख, कल्याण का आशीर्वाद दे रहे हैं, और लेने वाले भी सोच रहे हैं आनन्द हमें

मिल रहा है, सुख आ रहा है, कल्याण हो रहा है, तथा शान्ति मिल रही है। पर हो कुछ नहीं रहा यह सच है।

हम विचार कर देखें, ऐसा क्या हुआ? जिससे कल्याण, सुख, आनन्द, हमसे इतनी दूर हो गये और ऐसे दूर हो गये कि अशान्ति ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। हमने कौन से अकृत कार्य किये, जिसके कारण हम अशान्ति के दास बने? विचार करने पर ज्ञात होता है कि हमने ईश्वर की आज्ञा का पालन नहीं किया, वेद में कहा है कि मनुष्य को ईश्वर की आज्ञा में रहकर कार्य करना चाहिये, तथा हि–

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ।।

अथर्व० ६/२३/३//

अर्थात् **मानुषाः**=सब मनुष्य, **देवस्य** = प्रकाश स्वरूप, **सवितुः** = सर्वप्रेरक परमेश्वर के, **सवे** = प्रेरणा में (**षू प्रेरणे**), **कर्म**=कर्म, **कृण्वन्तु**=करें, जिससे, नः=हमारे, **अपः**=कर्म (**अप इति कर्म नाम**, निघ० २/१), **शं भवन्तु**=शान्तिदायक हों, **ओषधीः** = अन्न आदि पदार्थ, **शिवाः** = कल्याणकारक होवें।

तात्पर्य हुआ कल्याण, आनन्द, सुख, शान्ति चाहने वाले मनुष्य को ईश्वर की आज्ञा में रहना परम आवश्यक है। परमपिता परमात्मा आनन्दघन है, आनन्दमय है। सबको आनन्द देने वाले उस परमात्मा की आज्ञा है कि मनुष्य किसी के साथ हिंसा के भाव को न रखे, सबको भ्राता के समान समझे, ऋग्वेद में मन्त्र आया–

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ।।

ऋ० १।१७०।२॥

अर्थात् हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली जीव, **किम्**=क्यों, **नः**=हमें, **जिघांससि** =मारने की इच्छा करते हो, **मरुतः**=हम मनुष्य, (**मरुतः मनुष्याः**, दया०), **तव**=तुम्हारे, **भ्रातरः**=भाई हैं, **तेभिः**= उनके साथ, **साधुया**=साधु कर्मों से, उत्तम व्यवहारों से, **कल्पस्व**=सामर्थ्यवान् बनो, **नः**=हमें, **समरणे**=संसार संग्राम में (**समरण इति संग्राम नाम**, निघ० २।१७), **मा**=मत, **वधीः**=मारो।

तात्पर्य हुआ सुख चाहने वाले, आनन्द की कल्पना करने वाले मनुष्य को भूतल के सभी मनुष्यों के साथ भ्रातृवत् व्यवहार करना चाहिए, उनके सुख में ही सुख है, ऐसा सोचकर परस्पर मिल-जुल कर रहना चाहिये। यह भ्रातृवत् व्यवहार ही शान्ति का मूल है।

वर्तमान समय में वेद की इस आज्ञा का पालन कोई नहीं कर पा रहा। एक व्यापारी दूसरे व्यापारी को, एक चिकित्सक दूसरे चिकित्सक को, एक वकील दूसरे वकील को, एक नेता दूसरे नेता को, एक परिवार दूसरे परिवार को, एक भाई दूसरे भाई को किन-किन को गिनें, सभी तो एक दूसरे को मारकर, दबोच कर सुख, आनन्द, कल्याण, शान्ति चाहते हैं। विश्व भर में आतंकवाद की लहर फैली हुई है जिसने सभी को भयभीत किया हुआ है पुनः शान्ति की कल्पना कैसे सम्भव है? हमने ईश्वर की आज्ञा का पालन किया होता तो हमारे पास आनन्द, सुख, कल्याण होते, सर्वत्र शान्ति होती, हम उसके लिये भटकते नहीं।

सविता देव की मनुष्य के लिये यह भी आज्ञा है कि सभी स्वार्थ का त्याग करें, यानी प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के लिये जिये, दूसरों के कल्याण की बात सोचे, उसका चिन्तन सबके हित में हो, यथा -

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ।।

अथर्व० १ / ३१ /४ //

अर्थात् **नः** = हमारी, **मात्रे** = माता के लिए, **उत** = और, **पित्रे**=पिता के लिये, **स्वस्ति** = कल्याण, **अस्तु**=होवे, और, **गोभ्यः** = गौओं के लिये, **जगते पुरुषेभ्यः**=संसार के नर-नारियों के लिए, **स्वस्ति**=कल्याण होवे, **नः** = हमारा, **विश्वम्** = संपूर्ण विश्व, **सुभूतम्** = उत्तम प्राप्ति वाला, सत्ता वाला, **सुविदत्रम्**=अच्छे ज्ञान वाला, **अस्तु**=होवे, तथा **ज्योक्** = बहुत काल तक, **सूर्यम्** = प्रेरक परमात्मा को (**सूर्यः सुवतेर्वा**, निरु० १२।२।६), **एव** = निश्चित ही, **दृशेम**=देखें।

मन्त्र से स्पष्ट हुआ, यदि कोई सुख, कल्याण, शान्ति आदि चाहता है, तो उसे निम्न **सात बातों** का ध्यान रखना चाहिये-

१. स्वार्थ का त्याग

२. माता-पिता के कल्याण का ध्यान

३. गौ का कल्याण

४. संपूर्ण विश्व के लोगों का कल्याण

५. उत्तम उपलब्धि

६. उत्तम ज्ञान

७. सम्पूर्ण जीवन परमात्मा का सान्निध्य

स्वार्थ त्याग -

आनन्द, सुख और शान्ति के लिये स्व=अपनी अहमियत को त्यागना आवश्यक है। हमारा चिन्तन, हमारा कार्य सार्वजनिक हो, स्वार्थिक नहीं। स्वार्थ मनुष्य के अन्दर लड़ाई-झगड़ा, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि को पनपाता है। देश की जो स्थिति है, परिवार के जो विघटन हैं, वे सभी स्वार्थ के चलते हैं। स्वार्थ के हटते ही आनन्द, सुख, कल्याण एवं शान्ति ही शान्ति मिलती है।

माता-पिता का कल्याण -

वेद ने माता-पिता के कल्याण को चाहने की बात कही है, जो बहुत मार्मिक एवं गहन है। जब व्यक्ति नई गृहस्थी बसाता है, दो से चार बनता है, तब माता-पिता को शक्तिहीन, बहुत दकियानूसी करने वाले आदि समझ कर उनको अपने से दूर रखना चाहता है, और रखता है, या दूर नहीं किया है तो भी उनके भरण-पोषण आदि का कोई ध्यान करना नहीं चाहता। माता-पिता के इस बिलगाव की बात गाँव शहर सर्वत्र है। शहर के लोग अपनी मजबूरी बता सकते हैं कि पैसे की कमी है, स्थान की कमी है, सुविधायें न्यून हैं! इसी प्रकार गाँव के लोग भी एतादृक् कोई न कोई मजबूरी उपस्थित कर सकते हैं; पर उन्हें मालूम नहीं! माता-पिता को दूर कर उन्होंने स्वार्थ रूपी पाप की गहरी जड़ें जमा लीं। स्वार्थ यहीं से पनपता है, माता-पिता की सेवा करने वाला मनुष्य स्वार्थ बुद्धि के पाप से बच जाता है। जिसके अन्दर स्वार्थ का भाव पल जाता है, वह परिवार, समाज, राष्ट्र किसी को भी नहीं समझता। जिस घर, परिवार, राष्ट्र में माता-पिता के प्रति कल्याण की भावना नहीं होती वहाँ शान्ति नहीं होती, सभी अशान्त रहते हैं। एवंविध वेद के अनुसार माता-पिता की सेवा करना राष्ट्रिय दायित्व है। माता-पिता ऐसी दुर्लभ वस्तु हैं, जो पुनः प्राप्त नहीं किये जा सकते , जीवन

में एक बार ही प्राप्त होते हैं, इनके कल्याण में ही हमारा कल्याण निहित है, उनके निरादर एवं असेवा से हमारा मन सदा अशान्त रहता है, जिसे हम नजर अन्दाज भले ही करते रहें, पर यह हमें भली भाँति समझ लेना चाहिये कि माता–पिता की सेवा शान्तिदा है। उनकी सेवा से सुख शान्ति के साथ–साथ दूसरा लाभ यह भी है कि उनके सान्निध्य से बच्चे संस्कारवान् होंगे, उनका लालन सुन्दर ढंग से होगा, वे राष्ट्र के बढ़िया नागरिक बनेंगे।

गो कल्याण –

गौ वह पशु है, जिसका स्थान माता–पिता के अनन्तर है। माता–पिता ने उत्पन्न कर दिया, डेढ़–दो साल माँ ने अपना दुग्ध पान करा दिया। अब शतायु अथवा शताधिक आयु वाले मनुष्य के लिए पोषक तत्व प्रदान करने वाली गोमाता ही है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण जीवन व्यतीत होना है। गौ की विशेषताओं का चित्रण करने वाला यजुर्वेद में बहुत ही सुन्दर मन्त्र आया है, मन्त्र इस प्रकार है––

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि
यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी ।
सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां
पूषाऽध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ।।

यजु० ४।१९।।

मन्त्र में 'चित्' शब्द आया है, चित् पशु को कहते हैं, वह भी कौन सा पशु? जिसमें भोग सञ्चित हैं, और वह पशु गौ है। गौ चित् क्यों है? क्योंकि उसमें भोग सञ्चित हैं, यास्क महर्षि ने चित् का निर्वचन इस प्रकार किया है–

अथापि पशुनामेह भवति उदात्तः, चितास्त्वयि भोगाः, चेतयसे इति वा, निरु० ५। १।३१।, **उस्त्रिया इति गोनाम उत्स्राविणो अस्यां भोगाः,** निरु० ४।३।४२।।

अर्थात् चित् पशु है, क्योंकि तुझ पशु में भोग सञ्चित हैं, तू चेतनता देने वाला है, और वह भोग वाला पशु गौ है।

तदनु मन्त्रार्थ हुआ – **चित् असि** = हे गौ! तू चित् है अर्थात् तेरे में सब प्रकार के भोग = पदार्थ सञ्चित हैं और तू चेतनता देने वाली है, **मना असि** = तू मनन शक्ति की प्रदात्री है (**मनु अवबोधने**), **धीरसि**= तू बुद्धि को धारण कराने हारी है, **दक्षिणा असि** = तू कार्यों को आगे बढ़ाने वाली है, न्यूनता को पूर्ण करने वाली है, तू उत्तम दान है अतः गोदान की सभी कार्यों में प्रसिद्धि है, (**दक्षिणा दक्षतेः – समर्धयति कर्मणो व्यृद्धं समर्धयतीति,** निरु० १।३।६), **क्षत्रिया असि** = तू क्षात्र तेज देने वाली है, **यज्ञिया असि** = तू यज्ञ की साधिका है, घृत, दुग्ध इत्यादि से यज्ञ की सिद्धि होती है, **अदितिरसि** = तू अखण्डनीय है, नाश करने योग्य नहीं है, तू अविनाशिनी है, किसी को नष्ट नहीं होने देती, **उभयतः शीर्ष्णी**= सर्वतः सिर के समान उत्तम गुण वाली है, तेरी उतनी प्रतिष्ठा है, जितनी पूरे शरीर में सिर की होती है, **सा, नः**= वह तू हमें, **सुप्राची**= पूर्व काल में (**शोभनः प्राक् पूर्वकालो यस्यां सा, दया०**) अर्थात् जीवन के प्रारम्भिक काल में तथा प्रातः काल, **सुप्रतीची** = पश्चिम काल में (**सुष्ठु प्रत्यक् पश्चिमः कालो यस्यां सा, दया०**) अर्थात् जीवन के अन्तिम काल में तथा दिवस के अन्त में, **एधि**= सुख देने हारी होवे, **मित्रस्त्वा**= मित्र जन तुझे, **पदि बध्नीताम्**= प्राप्तव्य व्यवहारों में, कार्यों में दृढतया स्वीकार करें, **पूषा**= पुष्टि करने वाली गौ, **इन्द्राय अध्यक्षाय** = ऐश्वर्यशाली अध्यक्ष को, **अध्वनः पातु** = कुमार्ग से बचावे।

अर्थात् गौ ऐसा पशु है, जिसके दुग्धादि का सेवन कर बुद्धि, मननशीलता आदि आते हैं। आज हमारे पास बुद्धि है, पर मनन नहीं है, सुविचार नहीं है, जिसके चलते राष्ट्र में सर्वत्र अशान्ति है, उथल–पुथल है। बड़े–बड़े अध्यक्षीय पदों पर रहने वाले कुत्सित भ्रष्ट जीवन जी रहे हैं, कुमार्ग में पड़े हैं, अपनी बुद्धि की अहमियत के कारण एक दूसरे को दुःख में डुबो रहे हैं, सबके घर, द्वार, आचरण, खान, पान, बोली, भाषा, नष्ट–भ्रष्ट हैं, विकृत बुद्धि के ताण्डव नृत्य को आनन्द और सुख मुँह फेर कर खड़े देख रहे हैं। इसका कारण वेद की दृष्टि में यही है कि जिस शरीर में दुग्ध, दधि, तक्र, नवनीत, घृत को पहुँचना था, वहाँ बोतलबन्द, डिब्बे बन्द पेय और खाद्यान्न डाल दिये। संसद् भवन, ट्रेन, स्कूल, कॉलेज, जहाँ कहीं भी जो तोड़–फोड़ का सिलसिला जारी होता है, वह विवेकहीनता का ही तो परिणाम है। विवेक एवं मनन हीन होने पर राष्ट्र की उन्नति, राष्ट्र का कल्याण, राष्ट्र की शान्ति कौन सोचता है, राष्ट्र की शान्ति गो पालन में है जो स्वयं अदिति अविनाशिनी है वह दूसरों को भी अविनाशी बनाती है। गौ की सेवा करने वाला कभी भी दूसरों को नष्ट नहीं कर सकता, वह स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को भी सुखी करता है।

विश्व के लोगों का कल्याण –

संसार भर के लोगों के कल्याण के मायने हैं कि सभी सभी को आत्मवत् समझें, कोई किसी को अपने से भिन्न न माने । यहाँ यह भी ध्यातव्य है यदि मनुष्य स्व को छोड़कर पर में लग जाता है, तब भी उसका कार्य पूर्ण सुख, शान्ति का संवाहक नहीं बन पाता, क्योंकि स्व से उठने पर भी उसका दायरा संकुचित होता है, अतः स्व और पर यानी स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को छोड़कर मात्र अर्थ के लिये = विशिष्ट प्रयोजन के लिए जो कार्य किया जाता है वह कार्य ही सबके लिये आनन्ददायी होता है

अर्थात् बुद्धिजीवी प्राणी का चिन्तन सार्वजनिक होता है, जाति विशेष, परिवार विशेष, व्यक्ति विशेष आदि के लिये नहीं होता, तब आनन्द, सुख, कल्याण एवं शान्ति की स्थापना होती है। कहने का तात्पर्य हुआ राष्ट्र के प्रत्येक पदाधिकारी का, परिवार के प्रत्येक सदस्य का, समाज के प्रत्येक मनुष्य का चिन्तन, कार्य, लक्ष्य, उद्देश्य सीमित न हों असीमित हों, विशिष्ट लोगों के लिए न हों, सबके हित में हों, जिससे सभी को कल्याण, सुख, शान्ति का अनुभव हो।

उत्तम उपलब्धि –

नित्यप्रति हम प्रार्थना करते हैं **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** ऋ० १०।१२१।१०, हम धनैश्वर्यों के स्वामी होवें। मान लें यह धन हमने बन्दूक की नोक पर, जनबल की ताकत पर, दुराचार के सम्बल पर बटोर लिया, तो क्या यह सम्भव है हमें शान्ति मिलेगी? हमारा कल्याण होगा? और जिसका हमने छीना और हड़पा है, वह सुखी और शान्त होगा? कभी नहीं। कल्याण और सुख शान्ति के लिये नितान्त आवश्यक है कि हमारी उपलब्धियाँ, धनैश्वर्य की प्राप्तियाँ उत्तम क्रियाओं से प्राप्त हों। स्वच्छ, पवित्र उपलब्धि ही सुख और शान्ति देने वाली होती है।

उत्तम ज्ञान –

आनन्द, कल्याण, सुख, शान्ति उत्तम ज्ञान के प्रतिरूप हैं। ज्ञान के अभाव में सुख आदि प्राप्त करना सम्भव नहीं । उत्तम ज्ञान दुराचार, अधर्म आदि से बचाता है, पशुता से दूर करता है। चोरी कैसे की जाये इसकी विधि को जानना भी ज्ञान है, किसी को कैसे मारा जाये यह भी ज्ञान है, दंगे-फसाद कैसे किये जायें, यह भी ज्ञान है पर ये सभी सुख, शान्ति देने वाले नहीं, अतः ये उत्तम ज्ञान नहीं कहे जा सकते। हमारे ज्ञान के सहारे किसी के

दो पैसे व्यर्थ ही खर्च न हों, किसी की व्यर्थ की भाग दौड़ बच जाये, हमारी उचित सलाह से किसी का उपकार हो जाये, दुराचार से बच जाये, अगला व्यक्ति कर्त्तव्याकर्त्तव्य समझ जाये, ऐसा हमारा ज्ञान उत्तम ज्ञान कहायेगा, जो किसी के सुख, शान्ति में सहायक बना हो।

परमात्मा का सान्निध्य -

परमात्मा का सान्निध्य करने वाला व्यक्ति सदा सुखी और शान्त रहता है। संसार के सभी पदार्थ परमात्मा से बढ़कर आनन्द और सुख नहीं दे सकते। वेद में बहुत ही सुन्दर कहा है-

नह्य१न्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृडय ।।

ऋ० ८।८०।१।।

अर्थात् हे **शतक्रतो** = अनन्त बुद्धियों वाले, अनन्त कर्मों वाले प्रभु (**क्रतुरिति प्रज्ञानाम**, निघ० ३।९।, **क्रतुरिति कर्मनाम**, निघ० २।१।), **अन्यम्** = आप से भिन्न, **बळाकरं मर्डितारं**= महान् सुख देने वाले को, **हि**= निश्चय से, **न**= नहीं (देखते हैं) अर्थात् आप ही सब सुखों के स्रोत हैं, आप से बढ़कर कोई जीव या पदार्थ नहीं है जो सुख देने वाला हो, अतः **नः** = हमारे लिये, **त्वम् इन्द्र** = तुम ऐश्वर्यशाली परमात्मन्, **मृडय** = सुखी करो।

वेद स्पष्ट घोषित कर रहा है कि सुख और आनन्द परमात्मा के सान्निध्य से मिलते हैं, अर्थात् परमात्मा का उपासक जो राष्ट्र, परिवार एवं समाज है, वही आनन्द प्राप्त कर शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकता है।

इस प्रकार घर, परिवार, समाज एवं राष्ट्र में शान्ति कैसे आवे, सभी कल्याण, सुख, आनन्द को कैसे प्राप्त करें, इसके मूलभूत तथ्य मन्त्रों में बताये गये हैं। जिस राष्ट्र में ईश्वर की आज्ञा का पालन होता है, माता-पिता की सेवा होती है, जिससे धर्म, कर्म, शरीर की पुष्टि होती है ऐसे पशु का

पालन जहाँ होता है, जहाँ जातिवाद, परिवारवाद, गुटवाद, स्वार्थवाद, की सीमायें नहीं होती हैं, जिस राष्ट्र में, समाज में, उत्तम ज्ञान होता है, जहाँ सूर्यों के सूर्य सबके प्रेरक परमात्मा की उपासना होती है, हर कार्य के समक्ष मन में यह विचार होता है, मैंने किसी का आत्महनन किया है, सूर्य परमात्मा देख रहा है, मैंने किसी की रोजी रोटी छीनी है, वह सूर्य परमात्मा मेरे समक्ष है, मैंने झूठ अन्याय का सहारा लेकर किसी के कार्यों में बाधा डाली है, सज्जन को अपराध में प्रवृत्त किया है, निरपराधी को दण्डित किया है सूर्य परमात्मा मेरा साक्षी है, पद का दुरुपयोग करते हुए समाज की, संगठन की, राष्ट्र की सम्पत्ति को सगे–सम्बन्धियों में लगाया है, सूर्य परमात्मा निहार रहा है, **वहाँ कल्याण, सुख, आनन्द होते हैं, और शान्ति सबको सोमरस पिलाती होती है।**

असन्तोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसंभ्रमः।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिता।।

महा० शान्ति० २६५। २५।।

असन्तोष दुःख को उत्पन्न करता है, लोभ से इन्द्रियाँ दूषित होती हैं, तत्पश्चात् बुद्धि अनभ्यस्त विद्या के समान नष्ट हो जाती है।।

परिवार सुखी और संगठित कैसे हो ?

वर्त्तमान युग भौतिकवाद का युग है, हर कोई "**मैं और मेरा**" के लिये जी रहा है, चारपाई छोड़ने से लेकर रात्रि में पुनः उसके आश्रय में जाने तक उसके ही ताने-बाने बुनता है, प्रयत्न करता है, उसका प्रत्येक श्वास अपने '**मैं**' के लिये समर्पित है अर्थात् आज का व्यक्ति व्यक्तिवाद की चक्की में पिस रहा है, ऐसी स्थिति में किसी गृह के लिये परम्परा से चले आये '**परिवार**' शब्द का प्रयोग करना प्रयोक्ता की कूपमण्डूकता ही प्रतीत होती है क्योंकि '**परितः व्रियते आच्छाद्यते स्वीक्रियते सम्भज्यते इति परिवारः**' जिस समुदाय में परस्पर आच्छादन, पालन-पोषण, परस्पर वरणीयता हो, स्वीकार्यता हो, संभक्ति हो वह गृह '**परिवार**' नामधेय होता है।

परिवार उस भूमिका का नाम है जहाँ परस्पर एक-दूसरे के लिये जीते हैं, परस्पर के लिये सुख बटोरते हैं, दूसरे की हानि, दूसरे के दुःख को, अपनी हानि, अपना दुःख समझते हैं, दूसरे के दर्द को अपने हृदय का संवेग मानते हैं। परस्पर के इस विनियम की रीढ़ माता-पिता, सास-ससुर, सास-बहू, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, बहन-भाई, बहन-बहनोई, पति-पत्नी, बुआ-फूफा, मामा-मामी आदि सम्बन्धों की इकाइयाँ हैं, ये इकाइयाँ ही परिवार कहलाती हैं। इन इकाइयों के सम्बन्ध बड़े सन्निकट (नजदीकी) मृदुल (नाजुक) स्नेहिल सम्बन्ध हैं। दुर्भाग्यवश इन सम्बन्धों में जब दरार, बिखराव आता है तब एक दूसरे की शक्ल तक नहीं देखना चाहते, एक-दूसरे को दुःख बाँटते परोसते हैं और नारकीय जीवन जीने के लिये बाध्य होते हैं, अन्ततः संगठित परिवार विघटित होकर अपनी-अपनी

अट्टालिकाओं की दीवारों के पर्दों में रहते हुए सुख का एहसास करते हैं, जबकि वह सुख-सुख नहीं है, सुखानुभूति मात्र है। भला बताइये? जब मेरे शरीर का कोई भी अङ्ग दुःखी हो, मेरी आँख फूटी हो, हाथ टूटा हो, पैर लँगड़ा हो तब मुझे कितना कष्ट होगा, देखना, चलना, करना सब कुछ पराश्रित होगा, वह पराश्रितता हृदय को कितनी टीस पहुँचाती है, इसको भुक्त-भोगी भली प्रकार जानता है। वैसे ही परिवार में पिता-पुत्र, सास-बहू, पति-पत्नी, बहन-भाई आदि किसी के भी सम्बन्ध में विघटन होने पर क्या सुख की कल्पना की जा सकती है? क्या उसे वास्तविक सुख कहा जा सकता है? नहीं, विघटन में कदापि सुख नहीं हो सकता।

वेद में तो पूरे विश्व को ही एक नीड, एक घोंसला, एक परिवार बताया गया है **"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्"** यजु० ३२।८, हम विश्व भर को परिवार समझें अर्थात् उसमें रहने वाले हमारे सम्बन्धी हैं ऐसा एहसास करें, और इधर हमारी यह दशा? कि जिनकी गोद में खाये-खेले हैं, चले-बढ़े हैं, गिरे-उठे हैं उन्हें ही अपना नहीं समझ पा रहे हैं, विश्व भर की तो बात ही दूर।

वेद में जहाँ विश्व भर को एक नीड, एक परिवार बताया है, वहाँ उसे संगठित करने के उपाय भी बताये हैं। वेद के संगठित चिन्तन पर जाने से पूर्व परिवार के विघटित तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है। इन स्नेहिल सम्बन्धों में आखिर क्या होता है जिससे वे बिगड़ते हैं? टूटते हैं? परस्पर के सम्बन्ध कटु बनते हैं? स्नेहभाव समाप्त होते हैं? अन्ततः नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं? इन तथ्यों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कुछ न्यूनतायें हैं, कुछ दुर्गुण हैं, कुछ ऐसी अभीप्सायें हैं जो परिवार को नरक में ढकेले हुए हैं, यथा-

१. ईश्वर को न मानना,

२. ईश्वर ही देने वाला है-इसका ज्ञान न होना,

३. सन्ध्या-हवन न करना,

४. विद्वत् संगति से दूर रहना,

५. पुरुषार्थ का अभाव,

६. साधनों का अभाव,

७. माता-पिता की सेवा का अभाव,

८. समर्पण का अभाव,

९. सम्पत्ति का बँटवारा,

१०. परस्पर विद्वेष,

११. असत्य का आचरण, अहंवादिता,

१२. परस्पर का अविश्वास,

१३. ग्रह आदि का अन्धविश्वास, आदि-आदि।

इन कारणों से व्यक्ति स्वकेन्द्रित जीवन जीने के लिये बाध्य होता है और वह स्वार्थपरता, स्वचिन्तन में ही रम जाता है, धनलिप्सा उसे जकड़ लेती है, उसकी धन लिप्सा परस्पर ईर्ष्या-द्वेष के भाव उद्‌बुद्ध कराती है, जो परिवारों को कई भागों में बाँट देती है और परिवार विघटित होकर स्वोपासक बन जाते हैं, जिसके कारण वे किसी को एक गिलास पानी देने में भी कतराते हैं। अपने छोटे या बड़े भाई के परिवार को या अन्य रिश्तेदार को व्यक्ति शत्रु समझ लेता है। एक-दूसरे के घर बड़ी-बड़ी वस्तुयें तो क्या, तिनका भी न पहुँचने पावे इसकी बड़ी सावधानी बरती जाती है। शान्ति के लिये ग्रह, ज्योतिषी आदि बाबाओं का आश्रय लेते हैं। माता-पिता एक दूसरे

पुत्र के आश्रय के लिये तरसने लगते हैं। स्वकेन्द्रित व्यक्ति पुरुषार्थ छोड़कर भाग्य को कोसता है, अन्ततः इन परिस्थितियों से आक्रान्त हो, पराये धन को अपना धन समझने का साहस करता है, उसे हड़पना चाहता है, जिससे परिवार की शान्ति और प्रतिष्ठा नष्ट होने लगती है। प्रतिष्ठा नष्ट होने पर विषयवासना और भोगवादी प्रवृत्ति उसे दुराचारों की ओर इस कदर प्रेरित करती है कि वह दुर्व्यसनों के किले से घिर जाता है, जो परिवार, समाज सभी को कलुषित करते हैं। ऐसा व्यक्ति असत्याचरण, ईर्ष्या-द्वेष को अपने जीवन के उत्थान का बहुत बड़ा साधन मान लेता है, जिससे पतित होता हुआ वह अनुदारता, अनुच्चता, अहंवादिता की देहली को चूम लेता है, और परिवार के सभी स्नेहिल सम्बन्धों को तोड़कर अपने नये घरोंदे के बाशिन्दे बीबी-बेबी, बच्चों के इर्द-गिर्द ही केन्द्रित हो जाता है और **'मैं और मेरा'** की पूर्ति के लिये अपना जीवन मान लेता है।

तात्पर्य हुआ मनुष्य की अनुच्चता, अनुदारता, अहंवादिता, स्वकेन्द्रितता ही परिवार के विघटन में बहुत बड़ा कारण है। परिवार को संगठित करने के लिये सबसे पहले आवश्यक है कि प्रत्येक सदस्य उदात्त बने, उदार बने, और वह उदात्तता तभी होगी जब सबका मन एक हो। मन की मनस्विता के लिये वेद में बहुत सारे वचन हैं, ऋ० १०।१९१।२-४ के मन्त्रों में ईश्वर कहता है **"सं वो मनांसि जानताम्"** **"समानं मनः"** **"समानमस्तु वो मनः"** तुम्हारा मन भली प्रकार जानने वाला हो, तुम्हारा मन विरोध रहित हो, तुम्हारा मन समान हो। यजुर्वेद ३४।१-६ में भी कहा **"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"** मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो। इसी प्रकार अथर्ववेद ६।४५।१-६ में प्रार्थना की गई **"परोऽपेहि मनस्पाप"** मन के पाप दूर हों। इस प्रकार वेद मन्त्रों में मन के औदार्य एवं शिवसंकल्प के लिये बहुत से आदेश व प्रार्थनायें हैं क्योंकि मनुष्य के सम्पूर्ण ताने-बानों को सजाने-सवाँरने वाला, बनाने बिगाड़ने वाला मन ही है, उस मन के अनेक

कार्य हैं, शतपथ ब्राह्मण में मन के कार्यों को बताते हुए कहा-

काम: संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपपृष्टो मनसा विजानाति ।।

शत० १४।४।३।९।।

इस ब्राह्मण वाक्य का ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार अर्थ किया है-"शुभ गुणों की इच्छा करना काम है, शुभ गुणों की प्राप्ति के अनुष्ठान की इच्छा संकल्प है, संशय करके ठीक निश्चय करने के लिये जो सन्देह करना है उसका नाम विचिकित्सा है, ईश्वर सत्यधर्मादि नियमों पर अत्यन्त विश्वास का नाम श्रद्धा, अनीश्वरवाद, अधर्म से सर्वथा ऊपर रहने का नाम अश्रद्धा, सुख-दु:ख की प्राप्ति होने पर भी ईश्वर और धर्म के ऊपर सदा निश्चय से पालने का नाम धृति, अशुभगुणों का आचरण नहीं करना चाहिये इसका नाम अधृति, सत्य के अनाचरण और असत्य के आचरण में मन में संकोच और घृणा होने का नाम ह्री: है, शुभगुणों को शीघ्र धारण करना चाहिये इसका नाम धी:, असत्याचरण, ईश्वराज्ञा-भंग तथा पापाचरण में ईश्वर हमें सर्वत्र देख रहा है इसका नाम भी: है, अर्थात् काम, संकल्प आदि इतने गुणों वाला हमारा मन है।"

व्यक्ति के मन के श्रेष्ठ होने पर **'मैं और मेरा'** इसका भाव जाता रहता है **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** यजु० ३२।८ की भावना को वह अपने अन्दर बिठा लेता है और **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'**, यजु० ४०।१ वेद के इस रहस्य को समझकर अपने प्रयत्न से, अपने हाथों से जो अर्जित करता है उसे ही अपना हिस्सा समझता है। स्वोपार्जित धन को भोगकर उसकी इन्द्रियाँ नीरोग बनती हैं, सुन्दर स्वस्थ बनती हैं जिससे उसे प्रसाद रूप में **'सुख'** प्राप्त होता है। सुख .कोई स्थूल वस्तु नहीं है, यह अनवस्थित

पदार्थ है, अनुभूति का विषय है। सुख की परिभाषा करते हुये यास्क महर्षि लिखते हैं–

सुखं कस्मात् ? सुहितं खेभ्यः, खं पुनः खनतेः, निरु० ३।३।६, जो इन्द्रियों के लिये हितकारी हो वह सुख है, और छिद्र वाली होने से इन्द्रियाँ 'ख' कहलाती हैं। इन्द्रियों के उन हितों को अर्थात् सुख को कैसे प्राप्त करें, इसका उपाय वेद ने बताया –

ऋतं च मेऽमृतं च मे ऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मे ऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। यजु० १८ । ६ ।।

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। यजु० १८ । ८ ।।

अर्थात् **ऋतम्** = यथार्थ ज्ञान, **अमृतम्** = अमरता, **अयक्ष्मम्** = यक्ष्मा रोग की निवृत्ति, **अनामयत्** = नीरोगता, स्वस्थता, **जीवातुः** = जीवनी शक्ति, **दीर्घायुत्वम्** = दीर्घायुष्य, **अनमित्रम्** = मित्र एवं मित्रता, **अभयम्** = निडरता, **सुखम्** = उत्तम आनन्द, **शयनम्** = नींद, **सूषाः** = अच्छी प्रभात वेलायें, **सुदिनम्** = शोभन दिन अर्थात् दुःख रहित दिन, **शम्** = कल्याण, **मयः** = सांसारिक सुख, **प्रियम्** = प्रेम, स्नेह, **अनुकामः**= धर्मानुकूल कामना, **कामः**= इच्छा, **सौमनसः**= मन की प्रसन्नता, **भगः**=सम्पूर्ण ऐश्वर्य, **द्रविणम्** = बल, गति, **भद्रम्**= आत्मिक सुख, **श्रेयः**= मुक्ति सुख, **वसीयः**= सदा रहने वाला धन, **यशः**= कीर्ति और सर्वत्र चकार से तत् तत् विषय के साधन, **मे**=मुझे, **यज्ञेन** = यज्ञ से, **कल्पन्ताम्** = प्राप्त होवें।

वेद मन्त्रों से स्पष्ट हुआ कि इस मानवीय जीवन के उत्थान के जितने भी अभीष्ट पदार्थ हैं, वे सब यज्ञ से प्राप्त करने योग्य हैं। इन वेदोक्त अभीष्ट पदार्थों में **'सौमनसः'**, **'सुखं'** और **'भद्रं'** शब्द भी आये हैं, इसका तात्पर्य हुआ कि मन की उच्चता, सुमनता, सुख एवं भद्र = कल्याण यज्ञ से ही प्राप्त होते हैं, जो संगठित परिवार के द्योतक हैं ।

यज्ञ शब्द व्यापक अर्थ वाला है, **सृष्टि के रचयिता पूज्य परमपिता परमात्मा को वेद में यज्ञ[1] नाम से बहुधा पुकारा गया है** क्योंकि उसकी संगति, सान्निध्य, पूज्यता के बिना किसी भी पदार्थ को प्राप्त करना नितान्त असम्भव है, वह सर्वत्र समाया हुआ है–

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।

अथर्व० ११/४/१ ।।

अर्थात् उस, **प्राणाय**=प्राणस्वरूप को, **नमः**= नमस्कार है, **यस्य**=जिसके, **वशे**=वश में, **इदं सर्वम्**=यह सब है, **यः भूतः**=जो सदा वर्तमान है, **सर्वस्य ईश्वरः**= सबका ईश्वर है, **यस्मिन्**= जिसमें, **सर्वं प्रतिष्ठितम्**=सब जगत् स्थित है।

तात्पर्य हुआ परमात्मा सारे विश्व का शासक है, सारा विश्व उसके वश में है, उसमें ही सब कुछ सन्निहित है। वह ही सबको अन्न–जल दे रहा है[2]। जब परमात्मा की इस विशेषता को हम जान लेते हैं तो उसके ही सान्निध्य से मन की उदात्तता, सुख और भद्र प्राप्त करने का यत्न करते हैं, यतो हि–

यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम्। अथर्व० ७/१८/२ ।।

अर्थात् **यत्र** = जहाँ, **सोमः**[3]= शान्ति स्वरूप परमात्मा की छाया होती है, **तत्र**=वहाँ, **सदमित्** = हमेशा ही, **भद्रम्** = कल्याण होता है।

---

१. (१) तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे०। यजु० ३१/७।।
 (२) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। यजु० ३१/१६, आदि–।
२. अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्। ऋ० १०।४८।१॥
३. (१) प्राणः सोमः। शत० ब्रा० ७/३/१/२, (२) प्राणाः वै ब्रह्म। तै० ब्रा० ३/२/८ ।।

कल्याणकारी परमात्मा किसी एक का या जाति विशेष का कल्याण नहीं करता, अपितु समान भाव से प्रकाश, वायु, जल, अन्नादि पदार्थों को देता है, उस दाता के पृथिवीस्थ सभी प्राणी एक परिवार के सदस्य हैं। ऐसे यज्ञ=समदर्शी ईश्वर की उपासना से, उसकी प्रार्थना से व्यक्ति, राग-द्वेष से रहित हो जाता है। परिवार में समता का व्यवहार करके सभी को तृप्त, सन्तुष्ट रखता है, जिससे विघटन होने नहीं पाता।

यज्ञ देवों= विद्वानों को भी कहते हैं **'यज्ञो वै देवानामात्मा'** शत० ब्रा० ६/३/२/७, देवों की आत्मा का नाम यज्ञ है, और विद्वान् देव होते हैं **'विद्वांसो हि देवाः'** शत०ब्रा० ३/७/३/१०, उन विद्वानों के सत्संग से हमारा कल्याण होता है। वे हमारी बुराइयों को दूर कर सुमति[1] देते हैं, हमारे दीर्घ जीवन को बढ़ाने वाले होते हैं, और सुपथ दिखाते हैं, अतः विद्वत् संग में रहने वाले परिवार कभी भी नष्ट-भ्रष्ट नहीं होते हैं।

आहुति के साधन **अग्निहोत्र को भी यज्ञ कहा जाता है** जो हिंसा रहित[2] है। उस यज्ञ में डाली हुई आहुतियाँ वायु के संयोग से समान रूप से सबको प्राप्त होती हैं, और रोगादि दुःखों को दूर कर सभी का कल्याण करती हैं, वह चाहे मित्र हो अमित्र हो। इस प्रकार यज्ञाहुतियाँ हमें संगठन की प्रत्यक्षतः शिक्षा देती हैं कि जैसे यज्ञ में डाले गये पदार्थ अग्नि में ही न रहकर अपितु अग्नि से वायु, वायु से सूर्य, सूर्य से पृथिवी और पृथिवी से सभी प्राणियों को प्राप्त होते हैं, इनकी इस दान, त्याग की परम्परा से सबको सुख और आनन्द मिलता है, वैसे गृह का प्रत्येक सदस्य संगठित होकर एक-दूसरे के लिये अपने को अर्पण करके अपने उत्तरदायित्व में लगा रहे।

इस प्रकार **'यज्ञ'** शब्द की महिमा समझकर जब सुख की कल्पना की जाती है, उसकी चाह होती है तब उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न एकाङ्गी नहीं रहता, अपितु सर्वजनीन होता है। यज्ञिय भावना से ओत-प्रोत व्यक्ति किसी के धन पर अधिकार नहीं[3] जमाता है किन्तु पुरुषार्थ[4] करता है। उस

---

१. देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम् ०। यजु० २५ । १५ ॥
२. अध्वरो वै यज्ञः। शत०ब्रा० १ । २ । ४ । ५ ॥
३. मा गृधः कस्य स्विद्धनम् । यजु० ४० ।१॥
४. (१) यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षः । ऋ० ३।४।६,
(२) कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। अथर्व० ७। ५०। ८॥

वृजन = पुरुषार्थ के फल रूप में उन्हें सभी साधनों[1] की उपलब्धि होती है, जिससे परिवार सुखी संगठित होते हैं। **जिन गृहों में ईश्वरोपासना नहीं होती, विद्वानों का आदर नहीं होता, आहुति नहीं पड़ती, वहाँ दुःख ही दुःख बरसता है।**

परिवार को सुखी, संगठित बनाने के लिये वेद का और भी आज्ञायें ध्यातव्य हैं। **'पिता माता मधुवचाः सुहस्ता'**, ऋ० ५।४३।२, इस वेद वचन के अनुसार माता-पिता को मधुर वचनों के साथ अर्थात् बिना झगड़े के **सुहस्ताः** = खुले हाथों से सम्पत्ति को विभाजित करके सुहस्त बनना चाहिये, क्योंकि सम्पत्ति का बँटवारा भी परिवार के विघटन में बहुत बड़ा कारण होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा – **'ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधात्'**, ऋ० २।३८।५, अर्थात् **ज्येष्ठं भागम्** = सम्पत्ति के बड़े भाग को, **माता** = माता, **सूनवे** = पुत्र के लिये, **आ अधात्** = देवे।

और इसके अनन्तर पुत्रादि का कर्तव्य है धन लेने के बाद उन्हें पराश्रित न छोड़ें अपितु उनको सेवा शुश्रूषा से सुखी सन्तुष्ट रखें, जिससे वे कभी दुःखी न हों, **'तर्पयत मे पितॄन्'** यजु० २।३४, मेरे माता-पिता को पुत्र-सेवक आदि तृप्त करें, इसके लिये सचेष्ट रहें, यतोहि **'अनृणो भवामि अहतौ पितरौ मया'** यजु० १९।११, अर्थात् यदि माता-पिता सुखी रहते हैं तो मनुष्य पितृऋण से उर्ऋण हो जाता है। इस प्रकार सहर्ष सम्पत्ति का बँटवारा होने पर परिवार में विद्वेष की अग्नि नहीं सुलग पाती। हमारे माता-पिता आदि सुखी हों[2] इसके लिये पुत्र-पुत्रादि सभी कर्तव्यनिष्ठ बन जाते हैं। छोटे-बड़े और बड़े छोटे का भेदभाव मिटाकर परस्पर सौभाग्य[3] का संवर्धन करते हैं, और सबके मन सुभगता = ऐश्वर्य प्राप्त होने पर एक[4] हो जाते हैं।

---

१. वयं राजभिः प्रथमाधनानि अस्माकेन वृजनेना जयेम। अथर्व० २०।१७।१०॥
२. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु०। अथर्व० १।३१।४॥
३. अज्येष्ठासोऽकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। ऋ० ५।६०।५ ॥
४. विश्वदानीं सुमनसः स्याम०। ऋ० ६।५२।५॥

मन प्रसन्न होने पर परिवार से कटुता जाती रहती है, सभी **'वाचा वदामि मधुमत्'** अथर्व० १। ३४। ३, मैं मधुर वाणी का व्यवहार करूँ, इस वेदाज्ञा का नत शिरसा पालन करते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, असत्याचरण छोड़ने के लिये **'दुरितानि परासुव'** यजु० ३०/३, **'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि'** यजु० १।५, हमारे दुर्गुण, दुर्व्यसन दूर होवें, अनृत को छोड़ सत्याचरण को प्राप्त करूँ', इन प्रार्थनाओं की ओर अग्रसर होते हैं और परिवार के सभी व्यक्ति एक दूसरे पर विश्वस्त रहते हैं, **'मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु'** पार० गृह्य० २। २। १६, हमारे मन एक-दूसरे के अनुकूल हों, इसको हृदयङ्गम कर सभी पति-पत्नी, सास-बहू, पिता-पुत्र, आदि सम्बन्धों को बिगड़ने और बिखरने नहीं देते, एवं एक- दूसरे के लिये जीते हैं[1] पुनः सुख, शान्ति, संगठन के लिये किसी ज्योतिषी आदि बाबा की आवश्यकता नहीं रह जाती।

इस प्रकार पारिवारिक सुख किस प्रकार प्राप्त करें, परिवारों को किस प्रकार संगठित करें, इसे बहुत सुन्दर शब्दों में वेदों में बताया गया है। बस, आवश्यकता है कि हम वेदवाणी का मनन, चिन्तन कर, उसका अपने जीवन में पालन करें। उस वेदवाणी को कैसे प्राप्त करें ? इसको भी स्पष्ट करते हुये वेद में कहा-

अपक्रामन्पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतिरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥

अथर्व०७।१०५।१॥

अर्थात् **पौरुषेयात्**[2] = पुरुषकृत वाणी, वध आदि दुष्ट कर्म से, **अपक्रामन्**= दूर होते हुये, **दैव्यम्** = दिव्य, ईश्वरीय, **वचः**=वाणी को, **वृणानः**=स्वीकार करते हुये, **विश्वेभिः सखिभिः सह**= सभी साथियों के

---

१. ते हि पुत्रासोऽअदितेः प्र जीवसे मर्त्याय । यजु० ३। ३३॥
२. पुरुषात् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम् । वा०पा०५।१।१०,इस से ढञ् प्रत्यय।

साथ, **प्रणीतिः**= उत्तम नीतियों को, व्यवहारों को, सुख ..., उन्नतियों को, हे मनुष्य! **अभि आ वर्तस्व** = सब ओर से बरत, प्राप्त कर।

प्रकृत मन्त्र से ज्ञात हुआ कि मानवीय वचन, हिंसा कर्म आदि को छोड़कर जब हम वेदोक्त वचनों का पालन करेंगे, हमारा एक-एक कदम वेदानुसार होगा, तभी परिवार संगठित, सुखी, समृद्ध बन सकते हैं और **'परिवार'** शब्द की सार्थकता भी तभी समझी जा सकती है।

गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम्।
श्रवणं चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्यते।।

महा० शान्ति० २८७।२॥

सर्वदा गुरुजनों का सम्मान एवं वृद्धों के पास बैठना तथा वेदादि शास्त्रों का श्रवण करना शाश्वत आनन्द को देने वाला होता है।।

उपनिषदों के सुनहले व्रतोपदेश

परमात्मा सबका उपास्य है, उस उपास्य देव की प्राप्ति का साधन उपासना है। उपनिषदें उस उपासना विधि की निदर्शिका हैं, अध्यात्म विद्या की व्याख्यात्री हैं। उपनिषदों में जहाँ परमात्मा के स्वरूप कार्य, शक्ति, आदि के वर्णन द्वारा तथा पृथिवी, द्यौ, वृष्टि, समस्त जल, ऋतुओं, पशुओं प्राण आदि सृष्टि के पदार्थों के गुण कर्मों द्वारा उस तत्त्व तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है, वहीं मानवीय मूल्यों को भी परब्रह्म की प्राप्ति में सहायक माना है। किन्तु मनुष्य का यदि व्यावहारिक, नैत्यिक जीवन दूषित है, कलुषित है तो वह ब्रह्म प्राप्ति के लाख उपाय कर ले, कुछ हस्तगत नहीं होगा। व्यावहारिक जीवन उच्च बनाने पर ही पारमार्थिक वैभव की उपलब्धि होती है, अतः उपनिषदों में बहुधा देश, समाज, परिवार को एवं स्वतः को उन्नत बनाने के निर्देश किये गये हैं। इस संदर्भ में **छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय प्रपाठक के ११-२१ खण्ड के तथा तैत्तिरीयोपनिषद् के ३/७-१० अनुवाक के व्रतोपदेश प्रकरण का अपना विशिष्ट स्थान है।**

छान्दोग्योपनिषद् में उद्गीथोपासना, पञ्चविध, सप्तविध-पृथिवी अग्नि आदि रूप सामोपासना आदि द्वारा तथा यज्ञों में प्रयुक्त ऋचाश्रित, गायत्र, रथन्तर आदि सामगान के प्रतिरूप सांसारिक पदार्थों को बताते हुये उनके द्वारा भी ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग दर्शाया है। वे सभी सामगान हैं- गायत्र, रथन्तर, वामदेव्य, बृहत्, वैरूप, वैराज, शक्वरी, रेवती, यज्ञायज्ञीय एवं राजन।

इन सामगानों की हिंकार, प्रस्ताव आदि पाँच विर्भक्तियाँ हैं, यथा–

१. **गायत्रसाम**[1] में **मन हिंकार है,** हिंकार किसी भी कार्य के प्रारम्भिक रूप को कहते हैं। तो मन सम्पूर्ण क्रिया–कलापों का प्रारम्भक है तथा इन्द्रियों में प्रथम है।

वाक् प्रस्ताव है, प्रस्ताव कार्य के आरम्भ करने का नाम है, वाक् मन से सोचे हुये विचार की प्रस्तोत्री है, **'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति'।**

चक्षु उद्गीथ है, उद्गीथ कार्य के उच्चशिखर तक पहुँचाने का नाम है, चक्षु वाक् द्वारा प्रस्तुत कार्य का बखान करती है।

श्रोत्र प्रतिहार है प्रतिहार कार्य के नीचे=समाप्ति की ओर आने को कहते हैं, चक्षु के कार्य को ही श्रोत्र प्रतिपादित कर पूर्णता की ओर पहुँचाते हैं।

प्राण निधन है, निधन सम्पूर्णता का द्योतक है, प्राण में ही मन आदि इन्द्रियाँ समाप्त होती हैं, आश्रय पाती हैं अर्थात् शरीर के मन आदि पञ्चावयव **'गायत्रसाम'** के प्रतिरूप हैं, प्राणों = इन्द्रियों से (**प्राणा–इन्द्रियाणि,** ताण्ड्य ब्रा० २।१४।२।।) सम्बन्ध रखने वाला यह **गायत्र=प्राण रक्षक** साम है।

यहाँ उपनिषत्कार का संकेत है उपासक यदि ऋचाबद्ध **गायत्र साम** का स्व इन्द्रियों में दिग्दर्शन करने लगे, तो वह प्राणी अर्थात् समर्थ इन्द्रियों वाला होता है, वेदोक्त शतायु का उपभोक्ता बनता है **"ज्योक् जीवति = उज्ज्वल सशक्त होकर जीता है", प्रजा और पशुओं** से महान् होता है तथा **कीर्ति** से महान् होता है। गायत्र साम के इस प्रकरण में उपासक के लिये

---

१. मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः ।

प्राणो निधनमेतद् गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्।।

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात् तद् व्रतम्।।

छान्दो० उप० २।११।१–२ ।।

उपनिषद् ने आज्ञा दी " **महामनाः स्यात्तद् व्रतम्**" मैं महामना मनस्वी विचारशील होऊँ यह व्रत करे, निश्चय करे, क्योंकि महामना ही मनसा द्रष्टव्य प्रभु का दर्शन कर पाता है।

हम यदि अहर्निश महामना होने का व्रत कर लें, तो मन की दुर्बलता से, उसकी अनुच्चता से परद्रव्यापहरण, अनिष्ट चिन्तन, ईर्ष्या द्वेषादि की जो दीवारें खड़ी हो जाती हैं तथा अन्यों के प्रति मिथ्या धारणा बना लेना आदि-आदि दुर्भावनायें हमें अशान्त करती रहती हैं, मन को दूषित करती हैं, वे दूसरों के लिये तो कष्टदायक हैं ही, अपने लिये भी अत्यन्त हानिकारक हैं, उनसे बड़ी आसानी से मुक्त हुआ जा सकता है। मन की अविशालता से घर, परिवार, समाज सर्वत्र ज्वाला ही ज्वाला दृष्टिगोचर होती है। मन के ही अनुदात्त विचारों से, असहनशीलता से सास-बहू, जिठानी-देवरानी, भाई-भाई आदि के झगड़ों से प्रायः परिवार सिसक रहे हैं, बिखर गये हैं, यहाँ तक कि एक दूसरे की बलि ले रहे हैं, एवं लेने के लिये प्रयत्नशील हैं। समाज में एक परिवार दूसरे परिवार के लिये चोरी, डकैती आदि के कारण शत्रुवत् बने खड़े हुये हैं, इसका कारण मात्र हमारा मन ही तो है।

मन में यदि विशालभाव होते तो एक दूसरे की हत्यायें, अपहरण, चोरी, डकैती आदि द्वारा समाज, घर, परिवार को दूषित न करते, उनका अस्तित्व न मिटाते। राष्ट्र और राष्ट्रवासियों के प्रति विश्वासघात कर घोटालों द्वारा अर्थव्यवस्था की धज्जियाँ न उड़ाते। उपनिषत्कार का महामना होने का जो आदेश है, उसका सचमुच पालन हो जाये, तो सर्वत्र धवलता ही धवलता प्रतीत होगी। मन के विशाल होने पर वाणी, श्रोत्रादि अनिष्ट कथन, श्रवण को छोड़ स्वतः ही मृदु कहने, सुनने लगेंगे और हम विधूतपाप्मा बन अनायास प्रभु के अंक में होंगे।

२. **रथन्तर[१] साम** को अग्नि में देखना है। अग्नि का अरणिमन्थन द्वारा निकालना हिंकार है। उसमें धूम की उत्पत्ति प्रस्ताव है, प्रज्वलित दीप्ति उद्गीथ है, धधकते अङ्गारे प्रतीहार हैं, अग्नि की भस्म निधन है। इस प्रकार अग्नि सब कार्यों में अग्रणी नेता है तथा रथन्तर=अग्नि रूप रथ से यजमान को तराने वाला है, उस अग्नि से जो उपयोग लेते हैं, अग्नि को रथन्तर साम का अनुष्ठेय मानते हैं, वे **ब्रह्मवर्चस्, अन्नभक्षण का सामर्थ्य, पूर्ण आयु, कीर्ति आदि उपलब्धियों को प्राप्त करते हैं।** उस अनुष्ठेय अग्नि के प्रति हमारा कर्तव्य बताते हुये उपनिषद् कहती है कि **"न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेत् न निष्ठीवेत् तद् व्रतम्" अग्नि के सम्मुख आचमन, कुल्ला करना, निष्ठीवन= थूकना खकारना न करे, यह व्रत होना चाहिए।**

उपनिषद् के इस कथन में हमारी दैनिकचर्या की ओर संकेत किया गया है, कि मनुष्य यदि **ब्रह्मवर्चस्, पूर्ण आयु, प्रजा, पशु, कीर्ति को चाहता है,** तो उसे अग्नि का विधिवत् स्वच्छता से अनुष्ठान करना चाहिए, अथ च अग्नि के समक्ष होने पर आवश्यकता होते हुए भी अग्न्याभिमुख होके थूकना, खकारना नहीं करना चाहिए। अर्थात् यज्ञ अथवा पाकशाला आदि की अग्नि के प्रज्वलन से पूर्व मुखादि की प्रक्षालन आदि क्रियायें कर लेनी चाहिए। अग्नि का दीपन सूर्योदय तथा सूर्यास्त के पश्चात् किया जाता है, चाहे वह यज्ञवेदी में हो, चाहे वह रसवती आदि में हो। उपनिषद् के इस व्रतपालक को **बेड टी** की आवश्यकता नहीं होगी, वह विधिवत् दिनचर्या द्वारा उभयकालिक यज्ञादि का अनुष्ठाता बन नीरोग परमात्मदर्शन का जीवन

---

१. अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति।
स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति
तन्निधनं सँशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥
स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो
भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद् व्रतम् ॥

छान्दो० उप० २। १२। १,२ ॥

जियेगा। सूर्योदय के पश्चात् कुल्ला, मञ्जनादि करने वाला ब्रह्मवर्चस्, प्रजा आदि से हीन हो जायेगा।

३. **वामदेव्य साम**[1] को पति-पत्नी, प्रकृति-पुरुष, आदि के जोड़े में अनुभव करना है। विवाह का विचार आना हिंकार है, विचार को प्रकट करना प्रस्ताव है, सन्तानोत्पत्ति उद्गीथ है, पत्नी के प्रति स्नेह ज्ञप्ति प्रतिहार है, परस्पर प्रीति पूर्वक जीवन यापन करना निधन है। इस प्रकार परस्पर के सम्बन्ध में वामदेव्य साम का अनुभव करने से एकाकीपना समाप्त हो जाता है और कीर्ति, आयु आदि पूर्वोक्त लाभों का आनन्द प्राप्त होता है। इस सामोपासक के लिये उपनिषद् में निर्देश दिया गया **"न काञ्चन परिहरेत् तद् व्रतम्" किसी का परिहार=अपहरण न करे, यह व्रत होना चाहिये।**

अर्थात् स्त्री पुरुष के पवित्र वैवाहिक धर्म का स्मरण करते हुए किसी दूसरी स्त्री का परिहार = अपहरण व्यभिचार नहीं करना चाहिये। सम्प्रति समाज में व्यभिचार दोष किस प्रकार से अपना बीभत्स रूप फैलाये हुए है, यह किसी से छिपा नहीं है। समाचारपत्र व्यभिचार समाचारों से नित्य रंगे रहते हैं। उपनिषद् का यह व्रत यदि जन-जन धारण कर ले, तो समाज का निष्कलंक रूप स्वतः ही उपस्थित हो जायेगा, इसके लिए शासकीय

---

१. उपमन्त्रयते स हिंकारो, ज्ञपयते स प्रस्तावः, स्त्रिया सह शेते
स उद्गीथः, प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति
तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्।।१।।
स य एवमेतद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद, मिथुनीभवति
मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत् तद् व्रतम् ।।२।।
छान्दो० उप० २।१३।१,२।।

व्यवस्थाओं की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और अपने जोड़े की एक निष्ठा सर्वनिष्ठ ब्रह्म तक पहुँचायेगी।

४. आदित्य **बृहत् साम**[1] रूप है, जो अहर्निश हमारे उपकार में लगा हुआ है। आदित्य के उदयपूर्व काल को, उदित, मध्यंदिन, अपराह्ण एवम् अस्त होते हुये काल को सामगान समझना है। यानी उदीयमान सूर्य हिंकार है, उदय हुआ-२ प्रस्ताव है, मध्यकाल का सूर्य उद्गीथ है, अपराह्ण का प्रतिहार है और अस्त हुआ सूर्य निधन है। आदित्य में **बृहत् साम** का दर्शन करने वाला **तेजस्वी, अन्न का भोक्ता, तथा सम्पूर्ण आयु, कीर्ति आदि फलों का लब्धा होता है।** उस बृहत्सामोपासक के लिये व्रतोपदेश दिया **"तपन्तं न निन्देत् तद् व्रतम् "** तपते हुए- सूर्य को निन्दा **कोटि में न डाले, यह व्रत करे।**

अर्थात् उसकी आलोचना न करे, क्योंकि ईश्वर द्वारा सञ्चालित आदित्य के सभी कार्य सप्रयोजन हैं, प्रभु सूर्य के सन्ताप द्वारा संसार को तपाता है, वह तपाना उसका किसी प्रयोजन के लिये है सूर्य जितना तपेगा, वर्षा उतनी ही होगी। अन्नादि औषधियाँ उतनी ही रसपूर्ण होंगी। सूर्य की निन्दा से हम परमेश्वर की ही निन्दा करते हैं वह निन्दा हमें प्रभु के दर्शन से विमुख रखती है। हम ईश्वरीय उपकारों को जान सकें एतदर्थ उस तेजस्वी

---

१. उद्यन्हिकार, उदितः प्रस्तावो, मध्यंदिन उद्गीथोऽपराह्णः।
प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ।। १ ।।
स य एवमेतद् बृहदादित्ये प्रोतं वेद, तेजस्व्यन्नादो भवति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत् तद् व्रतम् ।। २ ।।
छान्दो० उप० २।१४ ।१,२।।

आदित्य की निन्दा न करने का निश्चय कर लें। इसी प्रकार आदित्य सम जो हमारे देव हैं, गुरु जन हैं, विद्वान् हैं, माता-पिता हैं उनके तेजस्वी रूप की भी निन्दा न करें, अपितु उसके पीछे छिपे उपकार को समझें।

५. **वैरूप सामगान**[1] का निदर्शन अन्तरिक्ष में बनते अभ्रों में करना है। बनते हुये मेघ हिंकार हैं, बरसने वाले प्रस्ताव हैं, उनका बरसना उद्गीथ है, विद्युत् का चमकना-गरजना प्रतिहार है, बरसना बन्द होना निधन है। अन्तरिक्ष के सामगान का उपासक **विविध तथा सुन्दर रूप वाले पशुओं की प्राप्ति के साथ-साथ आयु, कीर्ति आदि फलों का अधिकारी होता है।** इस सामोपासक के लिये व्रत बताया **"वर्षन्तं न निन्देत् तद् व्रतम्" बरसते हुए की निन्दा न करे, ऐसा व्रत होना चाहिये,** क्योंकि मेघ के बरसने से नाना रोगों की निवृत्ति होती है, भूमि उपजाऊ बनकर अन्नादि की समृद्धि प्रदान करती है। मेघ के सदृश जो भी हमारे लिये बरसते हैं, वस्तुओं के प्रदान द्वारा हमारा सिञ्चन करते हैं उनकी भी निन्दा हमें नहीं करनी चाहिए, यतोहि समृद्धता ही समृद्ध प्रभु का रूप दर्शाती है।

---

१. अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो, मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति
स उद्गीथो, विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार, उद्गृह्णाति-
तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ।।१॥
स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाँश्च
सुरूपाँश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या **वर्षन्तं न निन्देत् तद् व्रतम्** ।।२॥
छान्दो० उप० २।१५ ।१,२।।

६. **वैराज सामगान**[1] के स्वर ऋतुओं में झंकृत हो रहे हैं। वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् प्रतिहार है, हेमन्त निधन है। इन ऋतुओं के कार्य को सामगान समझने वाला **ब्रह्मवर्चस् के साथ-साथ आयु, कीर्ति आदि का उपभोक्ता बनता है।** प्रकृत साम उपासक को उपनिषद् आदेश देती है " **"ऋतून्, न निन्देत् तद् व्रतम्** " ऋतुओं की निन्दा न करे, यह व्रत होवे ।

हम देखते हैं ऋतुयें किस प्रकार से शीत, उष्ण तथा मन्द-मन्द शीतोष्णता के संगम से सुख प्रदान करती हुई हमारी आयु को, जीवन को बढ़ाती हैं, और हम अज्ञानी किसी एक ऋतु को अपने अनुकूल बताते हुए, शेष की निन्दा कर बैठते हैं। उसका परिणाम होता है ऋतु के अनुसार स्वास्थ्य के लिये जो प्राप्त करना चाहिये, वह प्राप्त नहीं कर पाते, अतः उपनिषद्कार आदेश देते हैं 'ऋतुओं की निन्दा न करो' अपितु समस्त ऋतुओं के गुणों को जानते हुए तदनुकूल अपनी दिनचर्या बना लो और नीरोग, दीर्घायुष्य को प्राप्त होकर परमयोगी परमात्म देव से जा मिलो।

७. **शक्वरी सामगान**[2] पृथिवी, द्यौ, अन्तरिक्षादि लोकों में विद्यमान है। लोकों में पृथिवी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्यौ उद्गीथ है,

---

१. वसन्तो हिंकारो, ग्रीष्मः प्रस्तावो, वर्षा उद्गीथः,
शरत्प्रतिहारो, हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ।।१॥
स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया।
पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत् तद् व्रतम् ॥
छान्दो० उप० २। १६ ।१,२ ॥

२. पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो, द्यौरुद्गीथो, दिशः
प्रतिहारः, समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥
स य एतमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति
ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत् तद्व्रतम् ॥
छान्दो० उप० २। १७। १,२ ॥

दिशायें प्रतिहार हैं, समुद्र निधन है। ये लोक हिंकार प्रस्ताव आदि विभक्तियों में उस परमेश्वर का ही बखान कर रहे हैं। लोकों की इस महत्ता का ज्ञाता महान् होता हुआ प्रजा, कीर्ति इत्यादि की प्राप्ति कर लेता है अतः वह **"लोकान् न निन्देत् तद् व्रतम्"** पृथिवी आदि लोकों की निन्दा न करे, **यह उसका व्रत होना चाहिये।** ये लोक परमेश्वर के रूप का, कार्य का, अहर्निश कीर्तन कर रहे हैं, हमें उसके समीप पहुँचा रहे हैं, और नाना सुख समृद्धि से पुष्टि दे रहे हैं।

८. **रेवती सामगान**[1] को हिंकार प्रस्ताव आदि रूपों से अजा, अवि, गौ, अश्व, पुरुष में समाहित करना है। अर्थात् पशुओं में बकरियाँ हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौवें उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं, पुरुष निधन हैं। जो इस प्रकार पशुओं को सामगान रूप से समझते हैं तथा परमेश्वर की प्राप्ति का साधन मानते हैं, वे आयु, प्रजा, कीर्ति आदि से परिपूर्ण होते हैं अतः कहा- **"पशून् न निन्देत् तद् व्रतम् " पशुओं की निन्दा न करे यह व्रत होना चाहिये।** उपनिषद् का यह व्रत सावधान कर रहा है, कि हम पशुओं को अपना उपकारी मानें। सभी पशु मिलकर हमें जीवनदान देते हैं, स्वस्थ रखते हैं। इनकी रक्षा करना ही, हमारा निन्दा न करना है। इनकी रक्षा न करने से ही तो आज हम **सिन्थेटिक, पॉलिथिन बन्द दुग्ध का पान कर मृत्यु का वरण कर रहे हैं।**

---

१. अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः
प्रतिहारः, पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥
स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति
सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत् तद् व्रतम् ॥
छान्दो०उप० २। १८। १,२ ॥

९. **यज्ञायज्ञीय सामगान**[1] का देह के अवयवों में अनुभव करना है। देह के अवयव लोम, त्वक्, मांस, अस्थि एवं मज्जा हिंकार आदि विभक्तियाँ हैं यानी देह में लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है, मज्जा निधन है। जो इस अवयव विज्ञान को जानता है वह **"न अङ्गेन विहूर्छति" उसके अङ्ग विहूर्छित = वक्र (वि+हुर्छा कौटिल्ये) नहीं होते तथा पूर्ण आयु, प्रजा, कीर्त्ति आदि का आलिङ्गन करता है।** अवयव विज्ञान ज्ञाता के लिए उपनिषद् ने आदेश दिया **"संवत्सरं[2] मज्जो नाश्नीयात् तद् व्रतं, मज्जो नाश्नीयात् इति, वा"** यज्ञायज्ञीय साम का समुपासक **आसंवत्सर मांस न खाये, यह व्रत होना चाहिए, निश्चय ही मांस कभी न खाये।**

आधुनिक समय में मांसाहार किस कोटि तक पहुँच चुका है यह बताने की बात नहीं रही। प्रत्येक घर मांस भक्षण के दुर्गुण से ग्रस्त हैं। भला सोचें, जो हमें पूर्ण आयु देने वाले हैं, स्वस्थ रखने वाले हैं, उनका मांस भक्षण यदि हम करेंगे, तो कैसे वेदोक्त आयु को पा सकेंगे। **आज लूली, लंगड़ी, पोलियो रोग आदि की मारी हमारी सन्तति हो रही है इसका कारण मांस भक्षण ही तो है,** उपनिषत्कार इसी तथ्य का संकेत कर रहे हैं। इस विकलांगता को दूर करने के लिये आज हस्पतालों में बच्चे के जन्म

---

१. लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो, माँसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो,
मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम्।।
स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाऽङ्गी भवति नाङ्गेन
विहूर्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति
महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्जोनाश्नीयात् तद् व्रतं मज्जो नाश्नीयादिति वा।।
छान्दो० उप० २। १९। १,२ ।।

२. **"संवत्सरं" इस शब्द में काल के अत्यन्त संयोग को दर्शाने के लिये कालाध्वनो० पा० २।३।५।। सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है अर्थात् कभी मांस न खाये, इसके द्योतन के लिये द्वितीया है।।**

लेते ही समय-समय पर नाना प्रकार के टीके लगवाने डॉक्टरों के चिकित्सा विधान में सुनिश्चित हैं तथा हर साल निश्चित तिथि को दवा पिलाने के सरकारी प्रावधान बनाये गये हैं, **किन्तु निश्चित जान लें, हम जब तक मांसभक्षण नहीं छोड़ेंगे तब तक विकलांगता भी हमारा पिण्ड नहीं छोड़ेगी।** इस स्थिति में हम दुःख से नहीं उबरेंगे तो उस आनन्दघन प्रभु का आनन्द ही कहाँ ले पायेंगे, अतएव उपनिषत्कार ने इस व्रत की दृढ़ता के लिये दो बार आवृत्ति की है, साथ ही यह भी विदित कराया है कि मांसभक्षण शास्त्र विरुद्ध है।

१०. **राजन सामगान**[1] को अग्नि, वायु आदि देवों में अनुभूत करना है। देवों में अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार है, चन्द्रमा निधन है। जो देवों की द्योतकता, प्रकाशकता आदि के तत्व को जान लेता है वह ही इन देवों की सलोकता, सार्ष्टिता, समानैश्वर्यता अर्थात् अग्नि आदि की विद्या का ज्ञाता बन अग्न्यादि के समान हो जाता है ततः सायुज्यता = अग्नि, वायु, नक्षत्र आदि के ज्ञान द्वारा उनसे कार्य लेने में समर्थ हो जाता है तथा **प्रजा, पशु आदि की सम्पत्ति से विभूषित होता है।** यहाँ राजन साम के ज्ञाता को उपनिषद् सचेत करती है **"ब्राह्मणान् न निन्देत् तद् व्रतम्" ब्राह्मणों की निन्दा न करे यह व्रत करे** । जिस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य, अन्धकार आदि को हटाकर प्रकाश, शीतल वायु आदि

---

१. अग्निर्हिंकारो, वायुः प्रस्ताव, आदित्य उद्गीथो, नक्षत्राणि
प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥
स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानां सलोकतां
सार्ष्टितां, सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया
पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्ननिन्देत्तद् व्रतम् ॥
छान्दो० उप० २। २०। १,२ ॥

से पुष्ट कर रहे हैं, तद्वत् जो ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिदान आदि करने वाले विद्वज्जनं हैं, माता-पिता आदि हैं जो अज्ञान से मुक्त कराते हैं उनकी निन्दा न करना हमारा परम धर्म होना चाहिये। इनका अनादर ही निन्दा है विद्वानों के अनादर, उपेक्षा से समाज किस गर्त्त में जा रहा है यह सर्वविदित है अज्ञान के पङ्क से दूर होने के लिये हम विद्वानों का आदर करें यह उपनिषद् का आदेश है क्योंकि ब्राह्मणों की अनिन्दा ही ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है।

११. अन्तिम व्रत बताने से पूर्व उपनिषद् कार कहते हैं- त्रयी विद्या, तीनों लोक, अग्नि, वायु, नक्षत्र, वयांसि आदि को सामरूप[1] समझना है। अर्थात् ऋग्, यजु, साम हिंकार हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक प्रस्ताव हैं, इन लोकों के अग्नि, वायु, आदित्य ये त्रिक उद्गीथ हैं, नक्षत्र, पक्षी, किरणें ये त्रिक प्रतिहार हैं, सर्प, गन्धर्व, पितर त्रिक निधन हैं, जो सबमें ओत-प्रोत प्रभु का कीर्तन कर रहे हैं। जगत् की प्रत्येक वस्तु को सामरूप समझने वाला सब कुछ प्राप्त कर लेता है। सारी दिशायें उसे भोग्य वस्तुयें प्रदान करती हैं। सामगान का व्यापक रूप समझने वाले के लिये व्रतोपदेश दिया गया **"सर्वमस्मीति उपासीत तद् व्रतम्" मैं सब कुछ हूँ, सब कुछ करने में समर्थ हूँ, इस प्रकार का अपनी आत्मा में निश्चय हो, यह व्रत होना चाहिये अर्थात् सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ मेरा सहायक है, मेरे लिये है, प्रभु मेरे**

---

१. त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो, नक्षत्राणि वयाँसि मरीचयः स प्रतिहारः, सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ।।

यस्तद्वेद स वेद सर्वँ सर्वा दिशो बलिमस्मै ।

हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद् व्रतं तद् व्रतम् ।।

छान्दो० उप० २। २१ । १,४ ।।

ही पास है, यह चिन्तन सर्वदा होना चाहिये। उपनिषद् के इस व्रत को धारण कर लेने पर मानव की जो कुण्ठाग्रस्तता, उदासीनता उत्साहहीनता है वह अनायास ही दूर हो जायेगी।

अब **तैत्तिरीयोपनिषद्** के व्रतों को लें। तैत्तिरीयोपनिषद् के व्रतों का प्रकरण भी ब्रह्मप्राप्ति के उपदेश के अन्तर्गत आया हुआ है। पिता वरुण अपने जिज्ञासु पुत्र भृगु को अन्न, प्राण, मन, विज्ञान आदि को ब्रह्म का प्रतिरूप बताकर ब्रह्मप्राप्ति के साधन व्रतों का विधान बताते हैं–

१. **"अन्नं न निन्द्यात्, तद् व्रतम्"** तैत्ति० उप० ३।७।१ **अन्न की निन्दा न करे इसका व्रत लें,** क्योंकि अन्न की निन्दा वस्तुतः ब्रह्म की ही निन्दा है। अन्न, प्राण आदि पदार्थों का अस्तित्व एक दूसरे के सहारे है और वे सब ब्रह्म के आश्रित हैं। ब्रह्म आनन्द है। अन्न के इस विज्ञान को जानकर, निर्मित भोजन में न्यूनता आदि होने पर या स्वास्थ्य में गड़बड़ी आने पर अन्न का दोष न लगावें अपितु निर्माणकर्त्ता और अपनी त्रुटि को पहचानें कि बनाने में या कहीं खाने में अन्नातिरेक अथवा विरुद्ध भोजन आदि तो नहीं हुआ। इस प्रकार ब्रह्म उपासक का अन्न की निन्दा न करना परम धर्म होना चाहिये।

२. **"अन्नं न परिचक्षीत, तद् व्रतम्"** तैत्ति० उप० ३।८।१॥ **अन्न का अनादर न करे यह व्रत करे,** क्योंकि अन्न के अनादर से अन्नदाता ब्रह्म का ही अनादर होता है। अन्न का फेंकना, प्राप्त अन्न को ठुकराना, दूषित अन्न का सेवन करना, मिलावट करके क्रय-विक्रय करना आदि अन्न का अनादर ही तो है, अन्न शरीर का पोषक है, जल, अग्नि रूप अन्न से ही जीवन का अस्तित्व है, अन्न का एक-एक कण बड़ा कीमती है। आज हम अन्न की विशेषताओं को भूल चुके हैं, हमारे बच्चे और स्वतः हम अन्न के कण को फेंकने - कचरने में कोई संकोच नहीं करते। बड़ी-बड़ी पार्टियों में, होटलों में की जाती अन्न बरबादी से सभी विज्ञ हैं। फ्रिज में रखे दूषित अन्न का सेवन एवं अनमेल भोजन, फैशन बन गया है, जो धरोहर में कमरदर्द,

गठिया, दमा, मधुमेह आदि रोगों को दे रहा है। अन्न मिलावट की चर्चा न करना ही श्रेयस्कर है। बस अन्न का अनादर न करें का व्रत लेकर अन्नदाता ब्रह्म की अच्छाया से बचना चाहिए।

३. **"अन्नं बहु कुर्वीत, तद् व्रतम्"** तैत्ति० उप० ३।९।१।। बहुत अन्न करे यह व्रत होवे, जिससे दूसरे का भी उपकार कर सकें, क्योंकि परसेवा ही परब्रह्म की सेवा है।

४. **"न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत, तद् व्रतम्"** तैत्ति० उप०३।१०।१॥ अपने समीप बसने के लिये आये हुए को अथवा समीप में, बस्ती में बसने वाले को मना न करे, यह व्रत करें। हम किसी को अपने सान्निध्य से इसीलिये तो दूर भगाते हैं कि हमें अन्न से उसकी सहायता करनी पड़ेगी। पर स्मरण रहे कि हमारा दूसरों को जीवन दान देना और जीने का अधिकार देना हमें 'स्वस्थता प्रदान करता है यह एक तथ्य है। उपनिषद् में इन व्रतों के जो लाभ[1] बताये गये हैं, वे ध्यातव्य हैं **व्रतकर्त्ता अन्नवान्**

---

१. **अन्नं न निन्द्यात्, तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।।**

अन्नं न परिचक्षीत, तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या।।

अन्नं बहु कुर्वीत, तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या।

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत, तद् व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नँ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नँ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नँ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नँ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नँ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नँ राध्यते। तैत्ति० उप० ३।७-१० ।।

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः।।

तैत्ति० उप० ३।१०।२ ।।

और अन्नाद = अन्न को भोगने के सामर्थ्य वाला होकर प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज तथा कीर्ति से महान् हो जाता है तथा उसकी वाणी और प्राण, अपान, योग, क्षेम से युक्त हो जाते हैं अर्थात् अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने में और प्राप्त की सुरक्षा करने में समर्थ होता है। यावज्जीवन हस्त-पादादि अङ्ग गतिशील रहते हैं और पायु उसका विसर्ग=विमुक्ति क्रिया में सक्षम रहता है। इतना ही नहीं और भी लाभ बताये हैं जो तत्रैव द्रष्टव्य हैं।

आज प्रायः संसार के प्रत्येक प्राणी की इच्छा है कि मैं परमात्मा को पहचान सकूँ, उसका सान्निध्य प्राप्त कर सकूँ, सर्वदा मातृवत् उसकी गोद में बैठने का एहसास कर सकूँ, हर पल उस प्रभु देव का कवच मेरे ऊपर हो, मेरे पास सन्तति हो, अन्न हो, पशुधन हो, ब्रह्मवर्चस् हो, कीर्ति की सम्पत्ति हो, शरीर स्वस्थ, सानन्द हो, आदि-आदि उसकी अभिलाषायें रहती हैं। अधुनातन काल में निन्यानबे प्रतिशत मानव रोगों से ग्रस्त हैं, हस्त-पाद साथ नहीं दे रहे हैं। कॉन्स्टिपेशन (कब्ज) से आबाल वृद्ध पीड़ित हैं जो सभी रोगों का जनक है इसकी चिकित्सा उपनिषद् बता रही है। **प्राणी सचमुच अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करना चाहता है, नीरोग जीवन चाहता है तो उसे उपनिषदों में कहे गये व्रतों को श्वास प्रश्वासवत् धारण कर लेना चाहिये, यतोहि व्रत जीवन वृक्ष का मेरुदण्ड है, लक्ष्य की लगाम है, नियम में ढाले हुये, निखारे हुए पूर्ण व्यक्तित्व का पर्याय है।** एतादृक् व्रतपालक ही अपने सोचे-विचारे उदात्त भावों को कार्य रूप दे पाता है, ऐसा व्यक्तित्व ही व्रतों के व्रतपति परमात्मा की गोद का स्वारस्य ग्रहण कर पाता है।

इस प्रकार यदि हम समाज से ईर्ष्या, राग, द्वेष, व्यभिचार आदि कल्मषों को दूर करना चाहते हैं, आदर्श की कामना करते हैं, स्वस्थता चाहते हैं, प्रभु से मेल चाहते हैं तो **आवश्यकता है उपनिषदों के व्रत धारण की।**

आइये पुरुष बनें !

लोक में आत्मतत्व के दो भेद जाने माने जाते हैं- स्त्री और पुरुष। लोक के ये भेद शारीरिक बनावट पर आधारित हैं, यथाहि महर्षि पाणिनि के 'स्त्रियाम्' ४।१।३ सूत्र की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि महर्षि ने अपने महाभाष्य में लिखा है :-

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।

अर्थात् स्तन और केशवाली स्त्री होती है और लोमवान् पुरुष होता है। तात्पर्य हुआ स्त्री जाति और पुरुष जाति का यह विभाग शारीरिक लिङ्गों के कारण है, जो उचित ही प्रतीत होता है, यतोहि इन लक्षणों को देखकर बिना बताये ही ज्ञान भी कर लिया जाता है, यह स्त्री है यह पुरुष है।

पर भाष्यकार स्त्री पुरुष विभाजक इस परिभाषा में अतिव्याप्ति रूप दोष दर्शन करते हुए आगे लिखते हैं -

लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञाने भ्रूकुंसे टाप् प्रसज्यते। नत्वं खरकुटीः पश्य।

महाभाष्य ।।४।१।३।।

यदि लिङ्ग से स्त्री पुरुष का ज्ञान किया जायेगा तो स्त्रीवेशधारी नटवाचक भ्रूकुंस शब्द में जो वस्तुतः स्त्री का वाचक नहीं हैं उसमें स्त्रीत्व द्योतक टाप् तथा नापित के गृहवाचक खरकुटी शब्द में नत्व की प्राप्ति होने लगेगी। इस प्रकार लिङ्ग द्वारा स्त्री पुरुष के विभाग में दोष होने से भाष्यकार ने स्त्री पुरुष विभाग का दूसरा लक्षण बनाया -

संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।

महाभाष्य ।।४।१।३।।

अर्थात् स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग जानने में संस्त्यान और प्रसव को लिङ्ग = चिह्न आधार बनाना चाहिए अपने सिद्धान्त से।

भाष्यकार के इस कथन का लोकानुसार तात्पर्य हुआ **'संस्त्यानम् = स्त्यायति अस्यां गर्भः'** अर्थात् जिसमें गर्भ इकट्ठा होता है वह स्त्री, **'प्रसवः = सूते पुमान्'** अर्थात् जो अपत्य को उत्पन्न करता है वह पुमान् है।

और महर्षि पतञ्जलि के वैय्याकरण सिद्धान्त से **संस्त्यानम्** नाम स्त्री का है अर्थात् जहाँ सत्व-रजस्-तम गुणों के परिणाम रूप शब्द, स्पर्श आदि

का जो संस्त्यान-संहनन इकट्ठा होना=विवेक द्वारा सत्वादि का प्रकृति में प्रविलय होना, तिरोधान होना है वह स्त्रीत्व है।

और **प्रसवः = प्रकट होने का नाम पुमान्** है अर्थात् शब्द, स्पर्श आदि का धर्मी यानी तद्वान् में उद्भव होना, आविर्भाव होना ही पुंस्त्व है। तात्पर्य हुआ जहाँ सत्वादि के परिणाम शब्द आदि गुणों का अपचय होता है उनका तिरोधान होता है, वह स्त्री है, और जहाँ शब्द आदि गुणों का उपचय=उद्भव होता है वह पुरुष है। इस प्रकार भाष्यकार के अनुसार स्त्री-पुमान् के विभाग में लिङ्ग कारण नहीं है, अपितु अपचय, उपचय कार्य कारण हैं।

लोक में स्त्री-पुरुष के विभाग का एक अन्य कारण भी महत्वपूर्ण समझा जाता है, कि जिसमें कठोरता हो, अङ्गों में दृढ़ता हो, भार आदि वहन करने में सक्षम हो, कठोर से कठोर परिश्रम कर लेता हो, वह पुरुष है, जिसके अङ्ग कोमल हों, माधुर्य से परिपूर्ण हो, सौन्दर्य से युक्त हो, बहुत भार उठाने में जिसको हिचकिचाहट हो, वह स्त्री है।

इस प्रकार लोक सुदृढ़, लोमवान् व्यक्ति को और उत्पन्न करने वाले को पुरुष कहता है, पर वेद, उपनिषद् आदि वैदिक वाङ्मय में ऐसा[१] नहीं है। वहाँ **आत्मतत्व का पुरुष को पर्याय माना गया है**। यह पुरुष[२] तत्व ही जड़-चेतन सभी में स्त्री और पुमान् रूप से विभक्त है, जैसा कि वेद में कहा-

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।

ऋ० १०।६०।११।।
यजु० ३१।१४।।
अथर्व० १६।६।१०।।

अर्थात् (देवों ने) इस पुरुष तत्व को धारण किया तथा उसके लिए नाना शरीर बनाकर, कई प्रकार से विभक्त किया। वेदमन्त्र के इस रहस्य को उपनिषद् ने इस प्रकार स्पष्ट किया-

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः।

बृहदा० उप० १।४।१।।

---

१. वैदिक वाङ्मय में आत्मतत्व का विभाग 'स्त्री और पुमान्' इन शब्दों में प्रतिपादित किया है, 'स्त्री और पुरुष' इन शब्दों में नहीं।

२. स्त्री और पुमान् विभाग में जीवात्म पुरुष का ग्रहण होगा, परमात्म पुरुष का नहीं, क्योंकि वह 'अकायम्' (यजु.४०।८) शरीर धारण नहीं करता है।

अर्थात् सृष्टि रचना से पूर्व पुरुष प्रकार वाला आत्मा ही था। उस पुरुष के ही नर-नारी ये दो विभाग हुए हैं, यथा -

स इममेवात्मानं द्वेधा अपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।

बृहदा० उप० १।४।३

अर्थात् उस पुरुषविध आत्मा ने अपने दो विभाग किये, ततः पति और पत्नी इस प्रकार के (जड़ चेतनों के) जोड़े बने।

यहाँ थोड़ा यह भी समझना आवश्यक है कि **आत्मतत्व दो हैं परब्रह्म और जीव। और ये दोनों ही पुरुष हैं, क्योंकि ये दोनों ही अग्रगामी हैं और पुरियों में शयन करते हैं।** दोनों आत्मतत्वों की पुरुष संज्ञा में पुरुष शब्द का निर्वचन महत्वपूर्ण स्थान रखता है। **'पुर अग्रगमने'** तौदादिक धातु से **'पुरः कुषन्'** (उ.४।७४) से कुषन् प्रत्यय होकर पुरुष शब्द निष्पन्न हुआ, जिसका अर्थ हुआ **'पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः'** अर्थात् जो आगे जाता है, बढ़ता है **वह पुरुष है।** जीव और ब्रह्म दोनों ही अग्रगणी हैं, अतः वे पुरुष हैं।

शयन अर्थ वाले पुरुष शब्द के निर्वचन निरुक्त आदि ग्रन्थों में किये हैं-

स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः।

बृहदा० उप० २।५।१८।।

शत० ब्रा० १४।५।५।१८।।

पुरुषः पुरिशयः। निरु० १।४।११।।

पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयति अन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।

निरु० २।१।३।।

पुर् = नगर में रहने से, सोने से, सर्वत्र व्याप्त होने से पुरुष कहाता है। व्याप्तता अर्थ वाला निर्वचन केवल परब्रह्म का है, जीव का नहीं।

इन निर्वचनों से स्पष्ट हुआ कि परमात्मा के लिए सम्पूर्ण सृष्टि पुरी है, जिसमें वह रहता है, शयन करता है, और व्याप्त है, अतः वह पुरुष है। जीवात्मा के लिए जड़ चेतन जगत् का यह शरीर पुर् है जिसमें उसका निवास होता है, रहता है, इसलिए जीवात्मा भी पुरुष है। और इन जीवों में भी विशिष्ट जीव ही पुरुष संज्ञा वाला है, गाय, घोड़ा, वृक्षादि स्थित जीव

नहीं। तभी तो जीवों के रक्षा आदि विधानों में पशु आदि का नामोच्चार पृथक् से किया गया हैं, यथा-

त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम्।
अथर्व० ८।७।११।।

मा नो गामश्वं पुरुष वधीः।
अथर्व० १०।१।२६।।

गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः।
अथर्व० ११।२।६।।

गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्।
यजु० ३।५६।।

कहने का तात्पर्य हुआ पुरुष संज्ञा परब्रह्म और मानव जाति की है, यानी नर-नारी दोनों ही पुरुष[1] हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् में परमात्मा और मननशील मनुष्य की पुरुष संज्ञा होने में एक और विशेषता बताई है जो बड़ी गम्भीर है, यथा-

स यत् पूर्वो अस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन
औषत् तस्मात् पुरुषः। बृहदा० उप० १।४।१।।

अर्थात् **यत्** = जिसने, **सर्वस्मात्** = सब प्रकार के, **अस्मात्** = अपने समीप, **पूर्वः** = आने से पहले ही, **सर्वान् पाप्मनः** = सब पापों को, कलंकों को, **औषत्** = जला दिया, भस्म कर दिया, **तस्यात् सः** = अतः वह, **पुरुषः** = पुरुष है।

उपनिषत्कार की पुरुष की यह परिभाषा अत्यन्त गहन है। पुरुषों का पुरुष परमात्मा सदा ही निष्कलंक है, उसे वेदों में बहुधा पवित्र, पापरहित बताया है-

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते०।
ऋ० ६।८३।१।।

शुद्धमपापविद्धम्०।
यजु० ४०।८।।

अर्थात् परमपिता परमात्मा पवित्र, शुद्ध और पापरहित है। एवंविध परमात्मा सही माने में पुरुष है, उसमें किसी भी प्रकार का दाग-धब्बा नहीं है।

---

१. एवंविध पुमान् का पर्याय पुरुष मानना स्त्री जाति के साथ बहुत बड़ा अन्याय है, विडम्बना है।

जीवात्मा भी परमात्म पुरुष के सान्निध्य से निष्कलंक है या अपने को निष्कलंक[1] बना सकता है क्योंकि वह परमात्मा जीवात्मा की समान योनि[2] वाला है, समान घर वाला है, (योनिः इति गृहनाम, निघ. ३।४)।

बृहदारण्यकोपनिषद् की पुरुष परिभाषा से ज्ञात हुआ कि जीवात्मतत्व की पुरुष संज्ञा हाड़, मांस, लोम आदि लिङ्ग विशेषों के कारण नहीं है, अपितु पूर्वतः ही दोष मर्दन तथा निष्कलंकता के कारण है, अर्थात् गुणागार आत्मा ही पुरुष संज्ञक है। इस प्रकार नर-नारी दोनों तभी पुरुष संज्ञा के अधिकारी हैं जब वे अपने अन्दर किसी भी प्रकार के आत्मिक, मानसिक, वाचिक, कायिक कलंकों को नहीं आने देते।

मानव आज अपनी पुरुष संज्ञा की महत्ता को नहीं समझता, वह उससे कोसों दूर है। वैदिक भाषा में निष्कलंक पुरुष कहा जाने वाला मनुष्य पापों से सराबोर है। उसके पापों का कारण उसके शरीरस्थ अङ्ग हैं, यथा-

अङ्गे अङ्गे वै पुरुषस्य पाप्मोपश्लिष्टः।

तै० ब्रा० ३।८।१७।४।।

पुरुष के अङ्ग अङ्ग में पाप चिपका हुआ है।

व्यतिषक्तो वै पुरुषः पाप्मभिः।

जै० ब्रा० २।२८७।।

पुरुष पापों से भली प्रकार जुड़ा हुआ है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के वचनों से सुस्पष्ट हुआ कि पुरुष = मनुष्य पापों से घिरा हुआ है, जाने अनजाने उन पापों को करता चला जा रहा है। मनुष्य के पापों का दिग्दर्शन भी ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है-

एष ह वै मुखेन पापं करोति योऽवाद्यं वदति।
एष ह वै बाहुभ्यां पापं करोति योऽनिघात्यस्य निहन्ति।
एष ह वा उदरेण पापं करोति योऽनाश्यान्नस्यान्नमत्ति।
एष ह वै पद्भ्यां पापं करोति यो जनमेति।

जै० ब्रा० २।१३५।।

---

१. यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।

मुण्ड० उप० ३।१।३।।

२. अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।

ऋ० १।१६४।३०।।

अर्थात् यह निश्चय से मुख से पाप करता है जो अकथनीय अनिन्द्य बातों को कहता है। यह निश्चय से बाहुओं से पाप करता है जो न मारने योग्य को मारता है। यह निश्चय से उदर से पाप करता है जो न खाये हुए के अन्न को खाता है या अभक्ष्य अन्न को खाता है। यह निश्चय से पैरों से पाप करता है जो लोगों के प्रति जाता है।

तात्पर्य हुआ मनुष्य मुख, हाथ, पेट और पैर से पाप करता है। आज मानव जो नर-नारी दो भागों में बटा हुआ है, वह अपने मुँह के विवर को ऐसे अपशब्दों से भूषित करता है, जिन शब्दों का आवर्त्तन भी पाप है। कारों और जहाजों का प्रयोग करने वाला मानव उन निम्नकोटि के शब्दों को परस्पर के वाद-विवाद में प्रयुक्त करता है जिन्हें सुनकर सिर नीचा हो जाता है। जो हाथ मानव को अमरता[1] दिलाने वाले हैं, परोपकार के लिए मिले हैं उनसे दूसरों के प्राण हरण कर एवं आत्महत्या जैसे जघन्य कर्म कर उन बाहुओं का पाप से अभिसिञ्चन कर रहा है, और अपने जन्म-जन्मान्तरों को बिगाड़[2] रहा है। भौतिक साधनों से सम्पन्न मानव मूक पशुओं के मांस, अण्डे-बच्चों को अपने पेट का उत्तम आहार बना चुका है, अपने उदर के चलते दूसरे के पेट की रोटी को हड़पने में कोई संकोच नहीं है उसे कुत्ते, बिल्ली की भाँति अपने ही स्वार्थ में लिप्त है। उसे पता नहीं ऐसा करके वह **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'** यजु० ४०।१।। वेद की इस आज्ञा का उपहास करता है ततः इसका पाप उसके उदर में नाना रोगों के रूप में साम्राज्य करता है। जो मनुष्य परस्पर भ्राता के सम्बन्ध वाला है वह शत्रु बन एक दूसरे के प्रति अपना आक्रोश जताने के लिए परस्पर की ओर बढ़ता है, जाता है, वह पैरों के पाप से बिंध जाता है। हतभाग्य ! जो उसे पैर सुपथ के लिए मिले हैं, वे दूसरे के विनाश के लिए बढ़ा दिये और पाप बटोर लिया।

अन्यच्च-

षड् वै पुरुषे पाप्मानष्षड् विषुवन्तः स्वप्नश्च तन्द्री च।
मन्युश्च अशनाया च अक्षकाम्या च स्त्रीकाम्या च।।

जै० ब्रा० २।३६३।।

---

१. दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते। ऋ० १।१२५।६।।
२. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।। यजु० ४०।३।।

अर्थात् पुरुष में छः पाप व्याप्त हैं- सोना, आलस, क्रोध, भोजन, अक्ष = इन्द्रिय तथा द्यूतलिप्सा और स्त्री की कामना।

तात्पर्य हुआ पुरुष के अन्दर स्वप्न, आलस, क्रोध, भोजन, अक्षकामना और स्त्री इच्छा[1] स्वाभाविक धर्म हैं। प्रत्येक के अन्दर हैं, पुनरपि ये पापजनक होने से पापरूप हैं।

(१) मनुष्य के लिए सोना शारीरिक स्वस्थता के लिए आवश्यक है। रात्रि दस बजे से लेकर चार बजे[2] तक सोना सामान्य नियम है, और ग्रीष्म काल को छोड़कर दिन में सोना सभी ऋतुओं में वर्जित है-

सर्वर्त्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्,..................।
विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम, तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च।।

सुश्रुत शारी० ४।३७।।

तस्मान्न जागृयाद् रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत्।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत्।।

सुश्रुत शारी० ४।३८।।

अर्थात् ग्रीष्मकाल को छोड़कर सभी ऋतुओं में दिन में नहीं सोना चाहिए। दिन में सोने से वात, पित्त, कफ कुपित होकर विकृत हो जाते हैं। इसलिए न रात्रि में जागरण करना चाहिए और न दिन में सोना चाहिए, क्योंकि शयन में और जागरण में उल्लंघन होने से विकृतियाँ आती हैं, दोष उत्पन्न होते हैं, अतः बुद्धिमानों को शयन का प्रमाण जानकर नींद लेनी चाहिए।

यदि सोने के नियम में गड़बड़ी हुई या रात्रि के बराबर दिन में भी निद्रालीन हो गये, तो वही अधर्म = रोगरूप अधर्म पाप[3] का कारण होगा, इसीलिए वेद में प्रार्थना की है-

मा नो निद्रा ईशत।

ऋ० ८।४८।१४।।

---

१. खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। महाभाष्य पस्पशा०
२. सदा स्त्री पुरुष दस बजे शयन और रात्रि के पिछले पहर व चार बजे उठके ....। संस्कार विधि गृह०।
३. निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति।

सुश्रुत शारी० ४।३२।।

अर्थात् निद्रा हमारे ऊपर शासन न करे।

(२) निद्रा का विकृत रूप ही तन्द्रा है-

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्राऽऽर्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्।।

सुश्रुत शारी० ४।४८।।

अर्थात् इन्द्रियों के विषय रूप, रस इत्यादि का ज्ञान न होना, शरीर में भारीपन, थकावट और निद्रा से ग्रस्त अवस्था का नाम तन्द्रा है।

यह भी एक पाप है, क्योंकि इससे ग्रस्त व्यक्ति शुभ कर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

(३) जैमिनीय वचनानुसार क्रोध तो क्रोध, मन्यु भी मनुष्य के लिए पाप है, क्योंकि मन्यु करने पर भी मनुष्य की नाड़ियों के अन्दर तनाव आता है। और दूसरी बात यह है कि जिसके प्रति मन्यु किया जाता है वह भी उसके हित भाव को नहीं जान पाता, और बात बिगड़ती जाती है, अतः वेद में प्रार्थना की गई-

अग्ने मन्यूं प्रतिनुदन्परेषामदब्धो गोपाः परिपाहि नस्त्वम्।

ऋ० १०।१२८।६।।

अर्थात् हे **अग्ने** = अग्रगणी परमात्मा तथा राजा, **अदब्धः** = किसी से दमित न होने वाले, **गोपाः** = रक्षक, **त्वम्** = तुम, **परेषां** = दूसरों के, **मन्युं** = क्रोध को (**मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणः** वधकर्मणो वा, निरु० १०।३।२६), **प्रतिनुदन्** = दूर हटाते हुए, **नः** = हमारी, **परिपाहि** = रक्षा करो।।

(४) अशन = खाना भी मनुष्यों के लिए जीवनाधार हेतु आवश्यक क्रिया है, पुनरपि यदि दूसरों को बिना दिये स्वयं ही ग्रहण कर लिया जाये, तो वह पापरूप हो जाती है। वेद ने कहा-

केवलाघो भवति केवलादी।

ऋ० १०।११७।६।।

अर्थात् अकेले खाने वाला मात्र पाप का भागी बनता है, अतः दूसरों को देकर के खायें।

(५) इन्द्रिय लिप्सा तथा द्यूतक्रीडा करना भी मनुष्य के पाप रूप कर्म हैं, इससे युक्त मनुष्य के लिए वेद ने कहा -

जहि श्वयातुम्।

अथर्व० ८।४।२२।।

अर्थात् **श्वयातुम्** = कुत्ते की चाल को, **जहि** = छोड़।

तात्पर्य हुआ कुत्ता इन्द्रिय लोलुप = काम वृत्ति का होता है, उसका आचरण मनुष्य न करें, क्योंकि कामातुर व्यक्ति को न भय होता है, न लज्जा। जिसके चलते वह मर्यादा तोड़ पाप का भागी बन जाता है। प्रथम तो वह अपना स्नेह जताने के लिए भाईचारे के सम्बन्ध स्थापित करता है, यदि समाज इन सम्बन्धों पर प्रश्नचिह्न की दीवारें खड़ा करता है, तो कामातुर व्यक्ति घर, परिवार से दूर व्यवधान रहित स्थान का चयन करता है, उस स्थान की कहानी गुप्त या सुप्त नहीं है, सभी परिचित हैं। प्रत्येक शिष्ट व्यक्ति प्रायः इस कहानी की हवाओं से बचने की कोशिश कर रहा है। मनुष्यों में कामातुरता का यह पाप इन्द्रियों के नष्ट होने पर आता है-

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।

अथर्व० ५।१८।२।।

अर्थात् **अक्षद्रुग्धः** = इन्द्रियों से नष्ट किया हुआ व्यक्ति, **आत्मपराजितः** = आत्मा से हार खा जाता है यानी उसकी आत्मा मृत सदृश हो जाती है, और वह, **राजन्यः** = शरीर का इन्द्र आत्मा (**ऐन्द्रो वै राजन्यः**, तै० ब्रा० ३।८।२३।२), **पापः** = पापी हो जाता है।

अक्ष = द्यूत खेलने वाला व्यक्ति भी पाप करता है, यतोहि वह अक्ष खेलते हुए झूठ, बेईमानी आदि का सहारा लेता है, तथा सब कुछ हार जाने पर उसकी जाया[1] = पत्नी सन्तप्त होती है, दुःखी होती है, यह सब उस व्यक्ति के पाप का ही तो फल है, इस पाप से बचने के लिए वेद ने आदेश दिया-

अक्षैर्मा दीव्यः०।

ऋ० १०।३४।१३।।

अर्थात् ऐ मनुष्य ! तू अक्षों से क्रीडा मत कर।

(६) निरन्तर स्त्रीकामना भी पाप है। वैसे तो स्त्री और पुमान् दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं, पर जो मर्यादायें हैं, उनका पालन करना नैतिक कर्त्तव्य होता है। मनु महाराज ने बड़ी ही सुन्दर मर्यादा प्रस्तुत की है-

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियसंग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।।

मनु० २।२१५।।

---

१. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋ० १०।३४।१० ।।

अर्थात् माँ बहन और बेटी के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं, उनसे विद्वान् भी पराजित हो जाते हैं।

आज का मनुष्य मनु महाराज की इस मर्यादा को भूल चुका है। पुरुष कहा जाने वाला जीव अधिक से अधिक स्त्रियों के सान्निध्य में रहना चाहता है और स्त्रियाँ भी पुरुष सान्निध्य की अभिकांक्षिणी रहती हैं इस सान्निध्य की बढ़ते-बढ़ते गाड़ी कहाँ रुकती है, उसका जवाब देह मात्र भगवान् ही होता है।

एतादृक् मनुष्य के पापों की लम्बी लड़ी को देखकर ज्ञात होता है कि वह कितना पापमय हो चुका है। इन पापों से बचने के लिए प्रार्थना की-

यत् अह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण
शिश्ना, अहस्तत् अवलुम्पतु। यत्किञ्च दुरितं मयि।।
तै०आ० १०।२४।१।।

यत् रात्रिया पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण
शिश्ना रात्रिस्तत् अवलुम्पतु। यत्किञ्च दुरितं मयि।।
तै०आ० १०।२५।१।।

अर्थात् जो मैंने दिन में या रात्रि में मन, वाणी हाथ, पैर, उदर और उपस्थेन्द्रिय से पाप किया है, दिन और रात उसे दूर कर देवें, जो कुछ भी मेरे में दुराचार हैं।

मनुष्य परहिंसा आदि करने का भाव मन में सोचकर मन से पाप करता है। अपशब्द, झूठ-चुगली आदि करके वाचिक पाप करता है। मोह, अभिचार = झाड़-फूंक के ढोंग द्वारा व्यर्थ दूसरों को परेशान करना, हत्या करना उसका हस्तकृत पाप है। विद्वान् गौ आदि को पैर से मारना[1], स्पर्श करना पादकृत पाप है, ऐसे पापी के लिए अथर्ववेद में समूल नष्ट करने का आदेश है, जिससे कि किसी पर उसकी छाया भी न पड़े। अण्डे, मांस, शराब आदि को उदर में डालना उदर का पाप है, अगम्य में गमन करना मनुष्य का उपस्थेन्द्रिय का दोष है। इन सभी पापों से मनुष्य को बचना चाहिए, जिन्हें वह दिन-रात किसी भी समय कर बैठता है।

---

१. यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं नच्छाया करवोऽपरम्।।
अथर्व० १३।१।५६।।

आज लोक जिस हाड़-मांस के पिंजरे को पुरुष मानता है, जिसकी बड़ी प्रतिष्ठा है, मान है, वह तथाकथित पुरुष जिस घर में न हो, तो बड़ा कोहराम मचता है, और स्त्रियाँ भी बहुधा अपने ऊपर खीझती हैं और चाहती हैं, काश ? हम पुरुष होते ?

इस विषय में लोक को स्पष्ट जान लेना चाहिए कि विशिष्ट आकार वाले व्यक्तित्व का नाम पुरुष नहीं है। **पुरुष वस्तुतः वह है, जो अपने अन्दर पापों को आने नहीं देता, पापों की उत्पत्ति से पूर्व ही उन्हें समाप्त कर देता है, ओषति = जला देता है[१]।**

और साथ ही यह भी जान ले कि पाप को जलाने की क्षमता भी मनुष्य में तब तक नहीं आती है जब तक वह वेद ज्ञान से दूर है, जिस वेदज्ञान में मनुष्य की आत्मा को पुरुष कहा है। वेद को जान करके ही पाप दूर किये जा सकते हैं-

न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत्।

मनु० १२।१०२।।

अर्थात् वेद बल होने पर पाप में रुचि नहीं होती है।

आज प्रत्येक नर-नारी को अपनी पुरुष संज्ञा को समझने की आवश्यकता है। साथ ही सोने, जागने, बोलने, विचारने तथा पाणि-पाद, उपस्थेन्द्रिय आदि के जो दोष हैं, उनसे बचने की आवश्यकता है, **अतः आइये पुरुष बनें, अपने-अपने पापों को दूर करें और घर-परिवार, समाज एवं राष्ट्र को पाप से मुक्त कर, आनन्द से युक्त करें।।**

१. बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१।।

वर्णव्यवस्था व जातिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

परमात्मा की सृष्टि में नाना प्रकार के निर्माण हैं, उन निर्माणों का वर्गीकरण जन्म = जाति के द्वारा किया गया है, यथा-ये मनुष्य हैं, ये गाय, घोड़ा आदि पशु हैं, ये तोता-मैना आदि पक्षी हैं, ये आम, जामुन आदि वृक्ष हैं, अर्थात् जिनके जन्म = प्रादुर्भाव की क्रिया समान होती है वे एक जाति वाले कहे जाते हैं। आन्वीक्षिकी तथा तर्क विद्या कहे जाने वाले न्यायदर्शन शास्त्र में जाति का लक्षण इस प्रकार किया गया है - 'समानप्रसवात्मिका जातिः', न्याय० २।२।७१।। अर्थात् समान = एक उत्पत्तिरूप धर्म है जिनका उन्हें एक जाति वाला कहा जाता है।

इन वर्गीकरणों में कभी भी बदलाव नहीं आता है, जो जिस जन्म = जाति वाला है वह उस जाति वाला ही रहता है। हाँ एक जाति वालों की परस्पर की अपेक्षा से अर्थात् गुण कर्मों के द्वारा उनके साथ विशेषण लग जाने से भेद बन जाता है, यथा-दुधारु गौ, काली गौ आदि। तथैव मनुष्य के साथ भी अध्ययन अध्यापन आदि गुण कर्मों के लग जाने से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि विभाग बन जाते हैं। ये विभाग मनुष्य के उपाधिरूप हैं, जाति रूप के नहीं, अतः मनुष्य जाति रूप विभाग सृष्टि के आदि से लेकर आप्रलयान्त मनुष्यजाति रूप से ही रहेगा, अन्य जाति के नाम से नहीं।

प्रारम्भ में मनुष्य एक ही प्रकार का था, उसके विभाग नहीं थे, जैसा कि महाभारत में कहा-

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीत् युधिष्ठिर।

अर्थात् सम्पूर्ण विश्व प्रारम्भ में एकवर्ण = मनुष्य जाति रूप से ही था। तात्पर्य यह हुआ मनुष्य जाति का विभाग जाति रूप से नहीं होता, अपितु गुण, कर्मों के अनुसार होता है।

आवश्यकता होने पर मनुष्य जाति का गुण, कर्मों के अनुसार वर्गीकरण होता है तो वह किस प्रकार होगा, इसका संकेत वेदों में किया गया है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

यजु० ३१।११।।

इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमालंकार है, तथा हि मन्त्रार्थ हुआ-

अस्य = इस ईश्वर की सृष्टि में, मुखम् = मुख के समान उत्तम गुण वाला, ब्राह्मणः = वेद, ईश्वर ज्ञाता ब्राह्मण इस नाम से, आसीत् = होगा, बाहू = भुजाओं के तुल्य पराक्रम युक्त, राजन्यः = राजूपत अर्थात् क्षत्रिय इस नाम से, कृत = किया जायेगा, यत् = जो, ऊरू = जांघों के तुल्य वेग वाला होगा, तत् = वह, अस्य = इस सृष्टि का, वैश्यः = वैश्य नामधारी होगा, पद्भ्याम् = पैरों के समान सेवा में संलग्न, शूद्रः = शूद्र नाम से, अजायत = माना जायेगा।

तात्पर्य हुआ जो मनुष्य विद्या और शम दमादि उत्तमगुणों से मुख के तुल्य होंगे वे ब्राह्मण, और जो अधिक पराक्रम वाले भुजा के तुल्य कार्यों के करने वाले होंगे वे क्षत्रिय, जो व्यवहार विद्या में अर्थात् लेन-देन में प्रवीण होंगे वे वैश्य, और जो सेवा आदि करने में पैरों के सदृश कुशल होंगे वे शूद्र वर्ग में आयेंगे।

वेद के इस वर्गीकरण का प्रायः सभी मनुस्मृति, भृगु स्मृति आदि स्मृतियों में तथा गीता, महाभारत आदि ग्रन्थों में विस्तार से व्याख्यान हुआ है। जिसे स्वार्थी, धर्मान्ध, अज्ञान में डूबे हुए लोगों ने नहीं समझा और समाज को जन्मना ब्राह्मण आदि जाति के बन्धन में इस प्रकार से जकड़ दिया कि उससे समाज मुक्त होना भी नहीं चाहता। समाज को नहीं मालूम कि यह वर्गीकरण क्यों हुआ? इसकी क्या आवश्यकता है? वह तो केवल- 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' कठो० २।५।। इस अन्ध परम्परा के अनुसार ढोता चला आ रहा है।

वर्ण विभाग क्यों और कैसे ?

वेदोक्त ब्राह्मणादि वर्ण विभाग किस प्रयोजन से हुआ इसका सुस्पष्ट वर्णन मनु महाराज के पुत्र शिष्य रूप भृगु महर्षि ने किया है, यहाँ उनके अनुसार ही विषय की समीक्षा प्रस्तुत है, तथाहि-

आदौ कृतयुगे नासीदारम्भः श्रौतकर्मणाम्।
नापि वर्णव्यवस्था च सर्वे सिद्धा तदाऽभवन्।।
भृगु० ४।१।।

अर्थात् आरम्भ में सतयुग काल में श्रौतादि कर्मों का प्रारम्भ नहीं था, और न ही वर्णव्यवस्था का कोई विभाग था। सभी मनुष्य सिद्ध थे, सभी सुखी थे।

यज्ञसिद्ध्यर्थ वर्णव्यवस्था–

त्रेतायां: प्रथमे पादे प्रारम्भो यज्ञकर्मणाम्।
तदा वर्णस्वरूपं हि दर्शिताकारमात्रकम्।।

भृगु० ४।२।।

अर्थात्- जब त्रेता युग के प्रथम चरण में यज्ञों का प्रारम्भ हुआ उस समय ब्राह्मणादि वर्णों का जो स्वरूप बना वह पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार ही था।

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि वर्णव्यवस्था यज्ञ की सिद्धि के लिये हुई। यज्ञकर्म के विभिन्न कर्मों को करने के लिये जो जिस योग्यता वाले थे उन्हें उन कार्यों के अनुसार विभाग बाँटे गये, और उन्हें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये उपाधियाँ दी गईं। तात्पर्य हुआ कर्म के अनुसार जो प्रतिभाशील वेदमण्डित जन थे, वे, विप्र = ब्राह्मण[1] संज्ञा से कहे गये और ऋत्विक् कर्म में नियुक्त हुए। जो शौर्य धैर्यादिमान् थे, उन्हें समाज की सुव्यवस्था के परिपालनार्थ क्षत्रिय[2] संज्ञा से नियुक्त किया तथा जो धनसंग्रह आदि कर्मों में कुशल थे, उन्हें वैश्य[3] शब्द के द्वारा अभिहित कर तत्तत् कर्मों से जोड़ा और जो आचार-विचार शून्य यज्ञादि कर्मों में सेवाकार्य के योग्य थे, उन्हें तत्तत् कर्म करने के लिए शूद्र[4] नाम से नियुक्त किया।

इस वर्णविभाग के प्रसङ्ग में यह बात भी सुस्पष्ट जान लेनी चाहिए कि ये ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण विभाग गृहस्थ आश्रम की उन्नति के लिए बनाये गये हैं- तथा च-

गृहस्थाश्रम – कार्यार्थं वर्णास्तत्रैव सम्मताः।
नान्याश्रमेषु तद्भेदस्तत्कार्याणाम् अभावतः।।

भृगु० ३।२।।

---

१. वेदेष्वकुण्ठिता प्रज्ञा एषामासीत् निसर्गतः।
आर्त्विज्यं कर्म ते कुर्वन् सर्वदा विप्रसंज्ञया।। भृगु० ४।४।।

२. बलिनः शौर्यधैर्यादिगुणोपेता मनस्विनः।
सुव्यवस्थां समाजस्य व्यदधुः क्षत्रसंज्ञया।। भृगु० ४।५।।

३. वार्त्तावाणिज्यशीलास्तु द्रव्योपार्जनबुद्धयः।
तत्तत्कर्मसु संलग्ना निर्दिष्टा वैश्यशब्दतः।। भृगु० ४।६।।

४. शौचाचारविहीना ये तामसा मन्दबुद्धयः।
स्थूलसेवादि–कर्माणि चक्रुस्ते शूद्रनामतः।। भृगु० ४।७।।

अर्थात् गृहस्थाश्रम के कार्यों की सिद्धि के लिए ब्राह्मणत्वादि चारों वर्ण माने जाते हैं न कि तदितर आश्रमों के लिए। अन्य आश्रमों में उन कार्यों का अभाव होने से।

महर्षि भृगु ने यहाँ सुस्पष्ट किया है कि **ब्राह्मणादि का वर्णविभाग गृहस्थ जीवन बिताने वाले लोगों के लिए है,** क्योंकि बृहस्पतिसव, राजसूय, वैश्य- स्तोम और स्थपतियाग आदि जितने भी वर्णोद्देश्यक कार्य हैं ये सब गृहस्थों के प्रति ही शास्त्र में विहित किये हैं। वसन्तादि ऋतु भेद से ब्राह्मण आदि के लिए अग्नि का जो आधान बताया है वह भी गृहस्थ के लिए है।

अन्य ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के जो भी कार्य भिक्षाटन करना आदि, वन में रहना आदि, परिभ्रमण करते हुए लोगों को शिक्षित करना आदि विहित है, वे वर्णभेद से विहित नहीं हैं। किसी भी वर्ण से आये हुए व्यक्ति को इन तीनों आश्रमों को समान रूप से ही करना है। तात्पर्य यह निकला ब्राह्मण आदि वर्णविभाग कार्य की सिद्धि के लिए ही हैं, जैसा कि- आचार्य शंकर ने कहा- **'ब्रह्मणा सृष्टा वर्णाः कर्मार्थम्'** शांकरभाष्य बृह० उप० १।४।१५।। अर्थात् ब्रह्मा ने कार्यों के लिए वर्ण बनाये हैं, और वे कार्य गृहस्थ आश्रम में ही विनियुक्त हैं।

ये ब्राह्मण आदि उपाधियाँ किन गुणों पर आधारित थीं, इसे भी भृगु महर्षि ने बहुत सुन्दर शब्दों में लिखा है-

ब्राह्मण विभाग—

ब्राह्मणोऽध्यापयेन्नित्यं तदावृत्तिक्रियादितः।
जायते मुखतः सेति मुखाज्जात इतीर्यते।।

भृगु० १।५२।।

अर्थात् वेदों का अध्ययन और उसकी बार-बार अध्यापन द्वारा आवृत्ति करने से, एवं तदनु आचरण करने से ब्राह्मण बनता है। और वह अध्ययनादि क्रिया मुख से ही की जाती है, अतः ब्राह्मणत्व की हेतुभूत क्रिया की उत्पत्ति मुख से होने के कारण ब्राह्मण ही मुख से उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है।

ब्राह्मण की मुख से उत्पत्ति, उसके द्वारा यज्ञादि कर्मों का मुख्यत्व समझाने के कारण है, तथाहि-

श्रौतकर्मोपयुक्तानामर्थानामिह मुख्यताम्।
श्रुत्या द्योतयितुं तेषां मुख्यजन्यत्वमुच्यते।।

भृगु० १।५३।।

श्रौतकर्मोपयोगी वस्तुओं का मुख्यत्व समझाने के अभिप्राय से वेद में ब्राह्मण को मुख[1] से उत्पन्न बताया है।

क्षत्रिय विभाग—

क्षत्रियो जायते मुष्टियुद्धाभ्यासक्रियादिना।
सा क्रिया बाहुजन्येति तस्योक्ता बाहुजन्यता।।
क्षत्रियादौ बलिष्ठत्वं दृश्यते श्रूयते च यत्।
तच्च बाह्वाश्रितं तस्मात् बाहुजत्वेन ते श्रुताः।।

भृगु० १।५४, ५५।।

मुष्टि युद्धादि का ठीक अभ्यास करने से क्षत्रिय बनता है, और वह युद्धादि की क्रिया बाहुजन्य है, अतः वेद ने क्षत्रिय को बाहुजन्य बता दिया, क्षत्रिय आदि में बल देखा, सुना जाता है, और वह बाहुओं में रहता है, इस हेतु से भी क्षत्रिय को बाहुजन्य बताया है।

वैश्य विभाग—

वाणिज्यादिक्रियासूपविशंस्तिष्ठन् प्रजायते।
वैश्यस्तदूरूसामर्थ्यादिति तस्योरुजन्यता।।

भृगु० १।५६।।

वाणिज्यादि की क्रिया में बार-बार उठने-बैठने से वैश्य बनता है। यह बार-बार उठना-बैठना, बाहर चीजों को लाना-देना आदि क्रिया ऊरूबल द्वारा साध्य है, इसलिए वैश्य को ऊरूजन्य वेद ने बता दिया।

शूद्र विभाग—

प्रधावन् परकार्यार्थं शूद्रोऽश्वश्च प्रजीवति।
प्रधावनं च पादाभ्यामिति तत्पादजन्यता।।

भृगु० १।५७।।

दूसरों की सेवा के लिए दौड़ते हुए ही शूद्र और अश्व अपना जीवन निर्वाह करते हैं, और यह दौड़ना पैरों से ही होता है अतः शूद्र को वेद ने पादजन्य बताया है।

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०। यजु० ३१।११।।

भृगु का यह विभाग "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्० यजु० ३१।११।। इस मन्त्र के रहस्य को उद्घाटित करने वाला है। इस वेद के रहस्य को सायण, उवट, महीधर नहीं समझ सके। प्रजापति के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है, अर्थात् आदि सृष्टि में ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाहू से उत्पन्न हुआ आदि ऊल जलूल अर्थ कर डाले और उन अर्थों को ही प्रमाण माना जाने लगा, तथा समस्त यज्ञादि कर्म तथाकथित जातिवादी ब्राह्मणों ने अपने हाथों में ले लिये, और अन्यों को उन कर्मों से वञ्चित कर दिया। जबकि ये कर्म गृहस्थ में रहने वाले नर-नारी दोनों को समान रूप से करने के कार्य थे।

महर्षि भृगु मुख आदि कथन की सार्थकता बताकर भी सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने लिखा-

प्रजापतिमुखादिभ्यः श्रुता सृष्टिः श्रुतौ क्वचित्।
साऽन्यतात्पर्यतः प्रोक्ता न तु मुख्यविवक्षया।।
विधिर्वा प्रतिषेधो वा यत्र यत्र श्रुतो[1] श्रुतः।
स्तुतिनिन्दाप्रबोधार्थं गाथाः स्युः तत्र कल्पिताः।।

भृगु० १।४७, ४८।।

अर्थात् प्रजापति के मुखादि से ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति वेद में जो सुनी जाती है, उसका तात्पर्य उत्पत्ति बताने में नहीं, किन्तु विषयान्तर में ही है। विधि या निषेध वेद में जहाँ-२ सुने जाते हैं, वहाँ तत्तत् विषय की स्तुति या निन्दा प्रकट करने के लिए अर्थवाद[1] रूप से कल्पित गाथायें जोड़ी जाती हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ब्राह्मणादि का मुखादि से उत्पन्न होने के कथन में, ब्राह्मणादि के अध्ययन अध्यापनादि विषयों को बताने में ही मुख से उत्पन्न होना आदि कहा गया है, उत्पन्न क्रिया के तात्पर्य से नहीं।

इस प्रकार भृगु स्मृति के इस प्रकरण से ज्ञात होता है कि परमपिता परमात्मा ने ब्राह्मणादि विभाग का वेद में निर्देश किया है, वह इस बात का सूचक है कि योग्यता देखकर ही कार्य विभाग बाँटने चाहिए।

पुरुष सूक्त में जहाँ इन ब्राह्मणादि वर्णों का वर्गीकरण है उससे पहले यज्ञ की चर्चा है, मन्त्र इस प्रकार है-

---

१. स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः। न्याय द० २।१।६५।।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽ अयजन्त साध्याऽ ऋषयश्च ये।।

यजु० ३१।६।।

अर्थात् तं यज्ञं = उस यज्ञ का, बर्हिषि प्रौक्षन् = महान् अन्तरिक्ष में प्रोक्षण किया (बर्हिषि महन्नाम, निघ० ३।३, बर्हिः इति अन्तरिक्षनाम, निघ० १।३), च = और, जातं पुरुषं = उत्पन्न हुए पुरुष को, अग्रतः = सामने करके, तेन देवाः = इससे देवों ने, अयजन्त = यज्ञ किया, ये = जो, साध्याः ऋषयः = साध्य ऋषि थे, उन्होंने।

तात्पर्य हुआ परमपिता परमात्मा ने सृष्टि यज्ञ का विस्तार महदाकार अन्तरिक्ष में किया, उस यज्ञ में हिरण्यगर्भ रूप पुरुष था उसकी सहायता से अग्नि, वायु आदि साध्य ऋषियों ने यज्ञ को सिद्ध किया अर्थात् सृष्टि निर्माण किया। उस यज्ञ का मुख = ब्राह्मण कौन था ? इसका संकेत बारहवें मन्त्र में किया 'मुखादग्निरजायत' अर्थात् उस यज्ञ का मुख अग्नि था। इसी प्रकार सृष्टि यज्ञ के प्रख्यापक जो यज्ञ हैं उन्हें बर्हि = कुशों से आच्छादित कर उनके सम्पादन के लिए चार विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र बनाकर सिद्ध करना चाहिए, इनके द्वारा ही यज्ञ की पूर्णता है, सफलता है। वर्णों में बँटे हुए मनुष्य यज्ञ के साधक हैं यह बात अन्य मन्त्रों से भी सिद्ध है, क्योंकि वेद के सभी आदेश उपदेश स्वतः प्रमाण हैं, तथाहि-

ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्।

ऋ० १०।५३।४।।

अर्थात् ऊर्जादः = अन्न को खाने वाले, उत = और, यज्ञियासः = यज्ञ का सम्पादन करने वाले, पञ्च जनाः = पाँचों जन, मम होत्रम् = मेरे यज्ञ का, जुषध्वम् = सेवन करो, अर्थात् मेरे यज्ञ में सम्मिलित होओ।

मन्त्र में 'पञ्चजनाः शब्द आया हुआ है, जिसका अर्थ करते हुए यास्क लिखते हैं - 'चत्वारो वर्णाः निषादः पञ्चम इति औपमन्यवः, निरु० ३।२।७) अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पाँच औपमन्यव आचार्य के मत से पञ्च जन हैं। 'पञ्चजनाः' का मन्त्र में एक विशेषण 'यज्ञियासः' भी है तो तात्पर्य हुआ कि ये पाँच यज्ञ के अधिकारी हैं, यज्ञ

के सम्पादक हैं। और ये पाँचों कैसे होने चाहिएं ? इसके लिये भी मन्त्र में 'ऊर्जादः' शब्द आया है। ऊर्क् अन्न का वाचक है, जो पका हुआ तथा सुगमता से काटने योग्य होता है। (ऊर्क् इति अन्ननाम ऊर्जयतीति सतः, पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा, निरु० ३।२।७) इस प्रकार 'ऊर्जाद' शब्द का अर्थ है अन्न खाने वाले। तात्पर्य हुआ यज्ञ के करने-कराने वाले वे ही लोग अधिकारी हैं, जो अन्न का भक्षण करते हैं, मांस आदि नहीं, चाहे शूद्र हों चाहे ब्राह्मण आदि कोई भी हों।

निषाद शब्द का अर्थ निरुक्त में- "निषण्णमस्मिन् पापकमिति, निरु० ३।२।७।। जो पाप युक्त है" ऐसा अर्थ किया है। वस्तुतः निषाद वे पराश्रित, निःसहाय, रोगी आदि जन हैं, जो अपनी असमर्थता के कारण धर्म का = कर्त्तव्य का नाश कर बैठते हैं, और पाप के भागी बन जाते हैं, ऐसे लोगों को सामुदायिक कार्यों में सम्मिलित करना आवश्यक है, अन्यथा उनकी आहें कार्यों की सफलता में बाधक हो सकती हैं, और हो जाती हैं।

वेद मन्त्रों के अनुसंधान से यह भी ज्ञात होता है कि मनुष्यों के ये पाँच विभाग ही बनने चाहिए, तथा जो भी संगठनात्मक कार्य हैं वे सभी इन पञ्चजनों के द्वारा ही सुसाध्य हैं। ऋग्वेद में राज्यकार्य के लिए पञ्चजनों को ही आदिष्ट किया है, यथा-

यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत ।
अस्तृणाद् बर्हणा विपोऽर्यो मानस्य स क्षयः।।

ऋ० ८।६३।७।।

अर्थात् **यत्पाञ्चजन्यया विशा** = जो पञ्चजनों की प्रजारूप समिति है, उसके द्वारा अर्थात् पाँच वर्णों के समुदाय से, **इन्द्रे** = राजा के लिए, **घोषाः असृक्षत** = सहायक संघोष निकलते हैं, **स विपः** = वह मेधावी, **अर्यः** = गतिशील, **मानस्य क्षयः** = मान-मर्यादा का निवास स्थान राजा, **बर्हणा** = महत्ता से, वृद्धि से, **अस्तृणात्** = शत्रुओं का नाश करता है।

तात्पर्य हुआ राज्य के कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं निषाद इन पाँच वर्णों वाले यानी इन गुण, कर्म स्वभाव वाले लोगों की सम्मिलित शक्ति के द्वारा ही सम्भव होते हैं, अन्यथा नहीं।

एवंविध भलीभाँति सिद्ध हुआ कि यह वर्ण विभाग मनुष्य का जाति विभाग नहीं है अपितु कार्य विभाग है। यह कार्य विभाग व्यवस्था प्रारम्भ में बड़ी उत्तमता से चलती रही-

एवं सम्भूय यज्ञादिकर्माण्येककुटुम्बिनः।
सोदरा इव चक्रुस्ते भुक्तिमुक्तिफलार्थिनः।।
न तेषां वसतावेकपङ्क्तिसम्भोजनादिषु।
न वा वैवाहिके भेदः कर्मण्यासीन्नृणां सदा।।

भृगु० ४।८, ६।।

अर्थात् इस प्रकार सब वर्ण एक कुटुम्ब के छोटे बड़े भाइयों के सदृश मिलकर भुक्ति मुक्ति के साधक यज्ञादि कर्म करते थे, उन लोगों के रहन-सहन में पङ्क्ति भोजन और विवाह आदि कार्यों में किसी प्रकार का भेद नहीं था।

वर्णव्यवस्था कर्म से ही-

वर्ण व्यवस्था कर्म से ही होती है, जन्म से नहीं। इसके पोषक हमारे सांस्कृतिक ग्रन्थ प्रमाणभूत हैं-

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः।।

शुक्रनीति १।३८।।

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा म्लेच्छ जन्म से उत्पन्न नहीं हुए हैं अपितु ये सभी गुण, कर्मों के अनुसार ब्राह्मण आदि भेदों को प्राप्त हुए हैं।

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्।।

श्रीमद्भागवत ७।११।३५।।

अर्थात् मनुष्य के वर्णविभाजक जो-जो लक्षण कहे गये हैं, वे जहाँ-२ दीखें उसे उस वर्ण के द्वारा ही निर्दिष्ट करना चाहिए।

शूद्रे चैतत् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः।।

महा० शा० १८६।८।।

अर्थात् यदि उत्तम लक्षण शूद्र में हों, द्विज में न हों तो वह शूद्र, शूद्र नहीं है वह ब्राह्मण ही है, और वह ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है, वह शूद्र है।

नाभागारिष्ट पुत्रौ द्वौ वैश्यौ ब्राह्मणतां गतौ।

हरिवंश ११।६।।

अर्थात् नाभागारिष्ट के दो वैश्य पुत्र ब्राह्मणत्त्व को प्राप्त हुए। उपर्युक्त प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि वर्ण व्यवस्था कर्म से ही होती है, जन्म से नहीं। तभी तो ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त हो गये और शूद्र ब्राह्मणत्व को।

कृतादिषु युगाख्येषु सर्वेष्वेव पुनः पुनः।
वर्णाश्रमव्यवस्थानं क्रियन्ते प्रथमं तु वै।।

वायुपु० ६१।६७।।

अर्थात् कृतादि सभी युगों में सर्व प्रथम वर्ण तथा आश्रम व्यवस्था की जाती है।

तात्पर्य हुआ यदि वर्ण व्यवस्था जन्मना होती तो बार-बार बनाने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

जन्मना वर्णव्यवस्था क्यों नहीं ?-

मनुष्य यदि ब्राह्मणोचित आदिं कर्मों को न करता हुआ भी, अपने पिता आदि के अध्ययन आदि कर्मों से अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, आदि कहलाने का साहस करता है, और प्रसिद्धि पाने की चाह रखता है तो उसे भृगु महर्षि **ब्राह्मणब्रुव** = नीच ब्राह्मण, **क्षत्रियब्रुव** = नीच क्षत्रिय, **वैश्यब्रुव** = नीच वैश्य तथा **शूद्रब्रुव** = नीच शूद्र कहते हैं।

ब्राह्मणब्रुव-

स हि मूढः स्वदेहे तद्विप्रत्वं जनकात्मगम्।
समारोप्य ब्रवीत्येवमतः स ब्राह्मण–ब्रुवः।।

भृगु० ३।१३।।

पितृ – पुत्रात्मनोर्भेदात् नान्योऽन्य–गुणसंक्रमः।
जन्मतः सम्भवेज्जातु संसर्गात् स्यादपि क्वचित्।।

भृगु० ३।१३।।

अर्थात् वह मूढ पिता की आत्मा में रहने वाले ब्राह्मणत्व को अपने में आरोप करके अपने को ब्राह्मण बताता है अतः वह ब्राह्मणब्रुव ही है न कि

ब्राह्मण। पिता पुत्र की आत्मा भिन्न है अतः एक आत्मा के गुण दूसरी आत्मा में जन्म से नहीं आते, संसर्ग से कदाचित् ही आ पाते हैं।

क्षत्रियब्रुव-

सोऽपि मूढः स्वीयदेहे क्षत्रियत्वं परात्मगम्।
समारोप्य ब्रवीत्येवमतः स क्षत्रियब्रुवः॥

भृगु० ३।२०॥

अर्थात् वह भी मूढ है जो दूसरे के क्षत्रियत्व को अपने में आरोप करके अपने को क्षत्रिय कहता है, वह क्षत्रियब्रुव ही है न कि वास्तविक क्षत्रिय।

वैश्यब्रुव-

मन्दबुद्धिरयं देहे समारोप्यान्यवैश्यताम्।
ब्रूते वैश्योऽहमित्यस्मान्न वैश्यः किन्तु तद् ब्रुवः॥

भृगु० ३।२७॥

अर्थात् जो वैश्य लक्षण न रहने पर भी, वह मूर्ख अपने को वैश्य पुत्र होने के कारण से वैश्य बताता है वह वैश्यब्रुव ही है, वैश्य नहीं।

शूद्रब्रुव-

शूद्रस्वभावहीनोऽपि शूद्रपुत्रत्वहेतुना।
आत्मानं यो वदेच्छूद्रं बहिष्कार्यः स दुर्मतिः॥

भृगु० ३।२९॥

परप्रत्ययनेनात्मबुद्धिः स वपुषि स्वके।
पित्रात्मशूद्रतां न्यस्य ब्रूते शूद्रब्रुवो ह्यतः॥

भृगु० ३।३०॥

अर्थात् जो शूद्रस्वभाव से रहित होने पर भी शूद्र पिता का पुत्र होने से अपने को शूद्र कहता है, वह शूद्रब्रुव है, और बहिष्कार्य भी है।

भृगु के इन विचारों को पढ़कर दृढ़ता से समझ लेना चाहिए कि वर्ण व्यवस्था कर्मानुसार है, जन्मना नहीं। महर्षि भृगु तो ब्राह्मणादि के विषय में प्रश्नोत्तर करना भी उचित नहीं मानते-

सज्जनत्वादिकं यद्वन्नोच्यते नैव पृच्छ्यते।
ब्राह्मणत्वादिकं तद्वन्न पृच्छेयन्नैव कीर्त्तयेत्।।

भृगु० ३।३२।।

अर्थात् जैसे लोक में कोई किसी से यह प्रश्न नहीं करता कि आप सज्जन हैं या दुर्जन, और न उत्तर देने वाला उत्तर देता है कि मैं सज्जन हूँ या दुर्जन, वैसे ही कोई किसी से न पूछे कि आप ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण और उत्तर देने वाला भी न बताये कि मैं ब्राह्मण हूँ या अब्राह्मण।

महर्षि के कहने का तात्पर्य है, ब्राह्मण अब्राह्मण के प्रश्न से यदि अगला व्यक्ति ब्राह्मण नहीं है, वह कितना आत्मग्लानि से भर सकता है यह बताने की बात नहीं, अनुभूति योग्य विषय है। यदि उसने अपने को उच्च बताने के लिए ब्राह्मण बता दिया, तो झूठ का पाप और लग गया अतः ऐसे प्रश्न करना उचित नहीं हैं।

यदि कोई अपना ब्राह्मणत्व झाड़ने के लिए दूसरे से प्रश्न कर ही बैठे तो उसके लिए भृगु कहते हैं-

एवं सत्यपि यो मोहात् स्वविप्रत्वं ब्रुवन्नपि।
पृच्छेद्यद्यन्यवर्णं स चाण्डालः सम्मतो बुधैः।।

भृगु० ३।३४।।

अर्थात् यदि कोई मोहवश अपने को ब्राह्मण बताते हुए दूसरे का वर्ण पूछे तो उसे बुद्धिमानों के द्वारा चाण्डाल कहा जाना चाहिए।

कहने का तात्पर्य हुआ जन्म से वर्णव्यवस्था मानने पर परस्पर ईर्ष्या, द्वेष बढ़ते हैं, तथा समाज में दूषितता आती है, विद्या, रक्षा, पालन आदि कार्यों में विकृति आ जाती है।

कर्मवर्णव्यवस्था का उच्छेद-

कर्म वर्णव्यवस्था के उच्छेद को बताते हुए भृगु महर्षि लिखते हैं-

त्रेतायाः प्रथमे पादे द्वितीयेऽथ तृतीयके।
गच्छत्येवं चतुर्थे तु जातो भिन्नरुचिर्नृणाम्।।

भृगु० ४।१२।।

याज्ञिकाः कल्पयामासुरात्मसात्कृत्य भूपतीन्।
सा च कालक्रमेणाशु जातिरूपमधारयत्।।

भृगु० ४।१६।।

अर्थात् त्रेता युग के चतुर्थ पाद आते-२ लोग भिन्न-२ मनोवृत्तियों वाले हो गये, और इधर याज्ञिक लोगों ने राजाओं को अपने वश में कर के जन्म से वर्णव्यवस्था करवा दी अर्थात् पिता जो-जो करेगा वही पुत्र भी करेगा, चाहे पुत्र पिता की योग्यता वाला हो, वा न हो।

इस जन्म व्यवस्था को मानने-मनवाने में राजाओं का पूर्ण सहयोग रहा, उन राजाओं में अग्रगण्य जनक नामक राजा थे-

जनकान्वयसम्भूतो जनको नाम भूपतिः।
तदानीमभवन्मन्दबुद्धिस्तेनेदमादृतम्।।

भृगु० ४।२०।।

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी जनक के वंश में जनक नामक एक मन्दबुद्धि राजा पैदा हुआ, उसने ही इस कल्पित जन्मवर्ण-व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, और उसको आदर दिया।

इस प्रकार राजाओं द्वारा कल्पित वर्णव्यवस्था स्वीकृत करने पर तथाकथित याज्ञिक ब्राह्मणों ने अपनी-अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए मनु आदि स्मृतियों में जन्म जाति पोषक प्रक्षेप कर डाले-

तत्सर्वं स्वानुकूल्येन जन्मजातिकथान्वितम्।
कृत्वा सर्वजनान् ते हि पाठयन्ति स्म याज्ञिकाः।।

भृगु० ४।३४।।

जन्मतो ब्राह्मणत्वादिवर्णसिद्धिं गवादिवत्।
बोधयद् वाक्यजातं हि याज्ञिकैः परिकल्पितम्।।

भृगु० ४।३८।।

अर्थात् याज्ञिकों ने स्वानुकूल जन्मजाति व्यवस्था समर्थक कथाओं से युक्त ग्रन्थों की रचनायें कर डालीं, और सब लोगों को वैसा ही पढ़ाने लगे, और साथ ही यह उद्घोष किया कि गौ आदि के समान अर्थात् जैसे गौ,

घोड़ा आदि जन्म से ही पृथक् जाति वाले हैं, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण भी जन्म से ही हैं, कर्म से नहीं।

अपनी इस व्यवस्था की प्रशंसा में अनेकानेक श्लोक रचे, यथा-

जन्मतो ब्राह्मणो ज्ञेयो न संस्कारादिसद्गुणैः।
गौर्दुष्टाप्यर्चनीयैव गर्दभादुत्तमादपि।।

भृगु० ४।५६।।

अर्थात् ब्राह्मण जन्म से जानना चाहिए संस्कारादि गुणों के कारण नहीं, क्योंकि जैसे सर्वोत्तम गधे की अपेक्षा दुष्ट गौ भी पूजनीय होती है, गधा नहीं, चाहे वह कितना ही उत्तम हो, पर वह पूजने योग्य नहीं होता। वैसे ही जो जन्म से ब्राह्मण है, उसे ही पूजना चाहिए, उससे अन्य कितना ही विद्यावान् हो, संस्कार वाला हो, वह पूजने योग्य नहीं।

एवंविध स्पष्ट हुआ कि जन्मना वर्णव्यवस्था स्वार्थी लोगों की चलाई हुई सोची समझी चाल है, वेदविहित शास्त्रानुकूल ऋषि महर्षियों द्वारा अनुमोदित नहीं। वेदादिशास्त्रानुकूल और ऋषि मुनियों द्वारा अनुप्राणित व्यवस्था तो कर्मणा वर्णव्यवस्था है।

जन्मना वर्णव्यवस्था मानने से तथाकथित ब्राह्मण जो गौर, शुच्याचार आदि बाह्य ब्राह्मण लक्षणों को ढो रहे थे, उनका तो स्वार्थ सिद्ध हुआ, इसमें सन्देह नहीं, पर उनकी इस व्यवस्था से राष्ट्र बिखरा, अखण्ड भारत के टुकड़े-२ हुए, नाना सम्प्रदायों ने जन्म लिया, मानवता मृत हो गयी, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रत्येक प्रवृत्तियाँ विकृत बन गईं, देशवासियों की आत्मा मृतवत् हो गयी, इसकी ओर उन तथाकथित ब्राह्मणों का ध्यान न रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी में युग प्रणेता महर्षि दयानन्द ही ऐसे सिद्ध पुरुष थे, जिन्होंने अपनी पैनी निगाहों से राष्ट्र की दुर्दशा को परखा और ढूंढ निकाला देश के बिखराव का कारण। और उद्घोष किया कि यज्ञ-याग, आचार-विचार, पठन-पाठन, राजा-प्रजा सबमें जो दूषितता है वह सब तथाकथित ब्राह्मणों के जन्मना ब्राह्मणवाद से है, उनके जातिवाद के बखेड़े से है। और महर्षि ने ही स्वयं जन्मना औदीच्य ब्राह्मण होते हुए भी सर्वप्रथम सदियों से उच्छिन्न कर्म वर्णव्यवस्था को समाज के सामने रखा। और अपने कथन को वेद, मनुस्मृति, एवं गीता आदि के प्रमाणों से पुष्ट किया।

महर्षि के इस कार्य का स्वार्थी, दम्भी लोगों ने विरोध किया और आज भी विरोध करने का साहस रखते हैं ऐसे लोगों को मैं कहना चाहती हूँ जिन ग्रन्थों को आप पूज्य समझते हैं उनमें ही कर्मणा वर्णव्यवस्था बताई है उनका क्या करेंगे ? आपके पूज्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत, महाभारत, हरिवंश[1] आदि ग्रन्थ उद्घोष कर रहे हैं, कि वर्णव्यवस्था कर्म से होती है, जन्म से नहीं।

यदि वर्णव्यवस्था गौ आदि के समान जन्म से होती तो जैसे पशुओं में गाय, घोड़ा आदि को पहचानने के लिए परमपिता परमात्मा ने शारीरिक बनावट में भेद किये हैं, किसी के सींग हैं, किसी के नहीं, किसी के सास्ना है किसी के नहीं, आदि भेद हैं वैसे ही ब्राह्मण आदि चारों वर्णों को भी पृथक्-२ पहचनवाने के लिए भी पृथक्-पृथक् भेद अवश्य बनाये होते, जिसको देखते ही विदित हो जाता कि यह ब्राह्मण है, क्षत्रिय है या अन्य।

इस प्रकार भलीभाँति सुस्पष्ट हुआ कि वर्ण व्यवस्था जो कर्म पर आधारित है उसे जन्म से मानना अज्ञान मूलक तथा राष्ट्रघातक है। आज तो जातियों की इतनी भरमार है कि सुन-२ कर मस्तिष्क भ्रमित हो जाता है, कि ये मनुष्य ही हैं या कुछ और ? इस जातिवाद के बखेड़े के कारण राजनेता अपनी-अपनी तथाकथित जातियों की आड़ में अपनी-२ खिचड़ी पका रहे हैं, और तथाकथित ब्राह्मण जनता को लूस रहे हैं, जनता भी अपनी-२ तथाकथित जाति के स्वार्थों के लिए नरसंहार कर रही है, देश दिन प्रतिदिन खण्ड-खण्ड हो रहा है।

यदि हम राष्ट्र का हित चाहते हैं, अपने को राष्ट्र का नागरिक मानते हैं तो उदार चरित्र होकर कर्मणा वर्णव्यस्था को मानकर, उन-उन गुण वालों को तत्तत् कार्य सौंपकर, संगठनात्मक कार्य पूर्ण कर राष्ट्र की अस्मिता को खण्ड-खण्ड होने से बचा लेना चाहिए।

१. देखें—पृष्ठ ५७—५८।

कर्मणा वर्णाश्रम व्यवस्था

कई शताब्दियों से समाज में एक अहं प्रश्न बना हुआ है कि वर्णाश्रम व्यवस्था जन्म से ही होती है या कर्म से। भ्रान्तिवश वर्णाश्रम व्यवस्था को जन्म से मानने के चलते अकबर भारतीय संस्कृति से न जुड़ सका। परिणामतः पाशविक सभ्यता लिए हुए मुसलमान अमरबेल की भांति देश में फैल गये, आपसी फूट बढ़ी, अखण्ड भारत के टुकड़े-टुकड़े हुये, देश को कई बार पराजय का मुंह देखना पड़ा, नये-नये धर्मों, सम्प्रदायों ने जन्म लिया एवं मानवता छुआछूत में बदल गई, इसका कहाँ तक वर्णन किया जाये ? देश की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक प्रत्येक प्रवृत्तियाँ पङ्गु बन गईं। जन्मना ब्राह्मणों के हाथों देशवासियों की आत्मा बिक गई, तथा सभी वर्ण अपने-अपने कर्त्तव्यों को भूल गये।

ऐसी त्रासदी से गुजरते हुये हम मानवों को युग प्रणेता महर्षि दयानन्द ने जगाया और सिंहनाद किया कि **वर्णाश्रम व्यवस्था गुण कर्मों की योग्यता से ही होती है जन्म से नहीं।** महर्षि ने अपने इस महामन्त्र का सत्यार्थ-प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में तथा स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश इत्यादि सभी ग्रन्थों में बड़ी दृढ़ता से प्रतिपादन किया है। और हमें बताया है कि जो उत्तम विद्या तथा शमदमादि गुणों से युक्त है वह ब्राह्मण, जो प्रजा की रक्षा, दानादि गुणों से युक्त है वह क्षत्रिय[२], एवं जो कृषि, वाणिज्य और रक्षादि के गुणों से युक्त है वह वैश्य है, और जो अल्पमतित्वात् विद्या रहित होने से इन गुणों का वरण नहीं कर सका, वह ही शूद्र है, इसीलिए मूर्ख होने से विज्ञान सम्बन्धी कार्यों के न कर पाने के कारण ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करना ही शूद्र का परम कर्त्तव्य है।

---

१. अध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।। मनु० १।८८।।

२. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। मनु० १।८९।।

३. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। मनु० १।९०।।

४. एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।। मनु० १।९१।।

इसी प्रकार बालक-बालिकाओं के इन गुण, कर्मों की क्रमशः पच्चीसवें एवं सोलहवें वर्ष में परीक्षा करके ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या और शूद्र का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिए, तभी अपने-अपने वर्णों के ठीक कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी। **तात्पर्य यह निकला कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य मनुष्य के कर्मों की परिभाषा है नवजात शिशु की नहीं।** बालक तो जन्म से शूद्र ही होता है, जैसा कि मनु महाराज भी कहते हैं-

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः।।

मनु० २।१५५।।

यही भाव **'वर्ण'** शब्द से भी द्योतित होता है। क्योंकि वर्ण का अर्थ है चुना हुआ, और वह वरण करने की शक्ति, चुनने का सामर्थ्य नवजात शिशु में नहीं होता, अतः बालक विद्याध्ययन काल में जिस प्रकार के कर्मों की योग्यता प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार के वर्णों को विद्या प्राप्ति के अनन्तर चुनता है, प्राप्त करता है।

ब्राह्मण कुलोत्पन्न बालक यदि नीच कर्म करता है तो वह निश्चित शूद्र है। यदि नीच वर्णस्थ बालक उत्तम कार्य करे तो वह अवश्य ब्राह्मण कहा जा सकता है। जैसा कि आप सभी जानते हैं कि किसी भी वर्णस्थ मनुष्य के नीच कर्म करने पर उसे गर्दभ, कुक्कुर, चर्मकारादि की संज्ञा दी जाती है। यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि यदि वर्ण व्यवस्था जन्म से होती, कर्म से नहीं, तो कैसे कोई उसे गर्दभादि की संज्ञा देता ?

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सभी मनुष्य अपने गुण, कर्म की योग्यता से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कहाते हैं, जन्मना नहीं। इसमें मैं अपना एक अनुभूत तर्क देती हूँ-

मुझे पू. आचार्या जी के साथ कई बार सभा सोसाइटियों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ सर्वत्र उन्हें तत्तत् पण्डितप्रवरों एवं सज्जनों की पहचान-परिचय कराना पड़ता है, क्योंकि उनके मुँह पर कोई ब्राह्मणादि को

बताने वाला पट्ट नहीं लगा होता, लेकिन आचार्या जी द्वारा लखनऊ चिड़ियाघर के पशु-पक्षियों की एक बार पहचान कराने के पश्चात् से उन्हें अब तक पुनः तत्तत् पक्षियों के अन्यत्र स्थानों में उपलब्ध होने पर बताने की आवश्यकता नहीं पड़ी, यतोहि पशु-पक्षियों की पहचान जन्म से है कर्म से नहीं। पर मनुष्यों में ऐसा नहीं होता, अतएव जहाँ-जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रियादि प्राप्त होते हैं वहाँ-वहाँ पुनः-पुनः उनको परिचय कराना पड़ता है। सम्भवतः इसी कारण परशुराम भी कर्ण को देखकर नही जान सके थे कि कर्ण क्षत्रिय है।

अतः आज आवश्यकता है कि सुख-शान्ति चाहने वाले सभी लोगों को निःशङ्क होकर कर्मणा वर्णव्यवस्था और कर्मणा एवं वयसा आश्रम व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिए, तभी देश की एकता अखण्डता सुरक्षित रह सकती है और भारत पुनः विश्वगुरु बन सकता है।

पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता।
धर्मसंरक्षणार्थमाश्रमाश्चत्त्वारोऽभिनिर्दिष्टाः।।

शान्ति० १६१।८।।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वं सृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।।

शान्ति० १८८।१०।।

अर्थात् पहले ऐश्वर्यशाली ब्रह्मा ने लोकहित चाहते हुए, धर्म की रक्षा के लिये चार आश्रम निर्दिष्ट किये हैं। वर्णों की कोई विशेषता नहीं है, सारा जगत् ब्रह्मा के द्वारा बनाया गया है। ब्रह्मा के द्वारा बनाया गया यह संसार कर्मों के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों को प्राप्त हुआ।।

विश्वव्यापी पोलियो और उसकी अचूक दवा

मेरा देश आधुनिक युग में कई प्रकार की आपदाओं, विपदाओं, आतंकों, समस्याओं से घिरा हुआ है, जिनमें रोगों की विपत्ति भी किसी से कम नहीं है। इसके बचाव के लिए, रोगों के उन्मूलन के लिए, राष्ट्र की ओर से बड़े-बड़े कैम्प, सुरक्षा अभियान एक आन्दोलन के रूप में चलाये जा रहे हैं, क्योंकि कोई भी देश हो, राज्य हो उसे सुख समृद्धि से परिपूर्ण रखना उसके राजा, मन्त्री आदि नेताओं का बड़ा भारी दायित्व होता है। जनता का जीवनाधार प्रशासन है और वही प्रशासन सफल है जिसमें जनता की सुख, सुविधा, शिक्षा-दीक्षा, स्वस्थता उत्तम हो, सुगठित और सुव्यवस्थित हो।

वर्त्तमान समय में पोलियो रोग के उन्मूलन का अभियान ज़ोरों पर है। इन अभियांनों से राहत तो मिलती है परन्तु सुदीर्घ शान्ति या रोगों की समाप्ति नहीं हो पाती, तथा अरबों रुपया व्यय होने पर भी राष्ट्र के लिए एक कलंक बना ही रहता है। इसका कारण है कि आज तक पोलियो के मूल कारण का अन्वेषण नहीं हो पाया है, यदि सही अन्वेषण हो जाता तो **'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्'** मूल के नष्ट हो जाने पर न उसकी शाखा रहेगी, न पत्ते, वृद्ध चाणक्य की इस सूक्ति के अनुसार हम पोलियो आदि रोगों से छुटकारा पा सकते थे।

आज से बहुत पहले हमारे ऋषि, मुनियों ने यह विदित कर लिया था कि वेद प्रतिपादित कर्त्तव्यों से रहित जीवन ही रोगों का मूल है, इनमें से भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके माँसाहार करना भी अत्यन्त निन्दनीय कर्म है। छान्दोग्योपनिषद् के रचयिता महर्षि ने उत्तम कर्त्तव्यों की सूची उपनिषद् में गिनाई है, जिनका वस्तुतः व्रत समझकर हमें पालन करना चाहिए, क्योंकि **'व्रतमिति कर्मनाम'** निरु० २।४।१३॥

महर्षि ने व्रत के माध्यम से, मांसाहार के कारण असाध्य बने पोलियो जैसे रोगों की बड़ी ही अचूक दवा बताई है। वे लिखते हैं-

"संवत्सरं मज्जो नाश्नीयात् तद् व्रतं, मज्जो नाश्नीयात् इति वा" छान्दो० उप० २।१९।२॥ अर्थात् आसंवत्सर मांस न खाये यह व्रत होना चाहिए, निश्चय ही मांस कभी न खाये। उपनिषत्कार ने इस **व्रत=कर्त्तव्य** के पालन करने वाले के लिए बड़े ही सुन्दर लाभ लिखे हैं, जो बड़े महत्वपूर्ण हैं, यथा–

१. **अङ्गी भवति**= अङ्ग वाला होता है अर्थात् स्वस्थ, सुन्दर अङ्गों वाला होता है।

२. **न अङ्गेन विहूर्छति**= इस व्रत के पालक के अङ्ग **विहूर्छित**= **वक्र और विकृत (वि+हुर्छा कौटिल्ये) नहीं होते हैं।**

३. **सर्वमायुरेति**= पूर्ण आयु को प्राप्त होता है।

४. **ज्योक् जीवति**= उज्ज्वल जीवन जीता है। उसके जीवन में ज्योति ही ज्योति होती है।

५. **महान्प्रजया पशुभिर्भवति**=प्रजा=सन्तान और पशुओं से बड़ी सम्पत्ति वाला होता है।

६. **महान्कीर्त्या**= अपनी कीर्त्ति से वह बड़ा बनता है, दिग् दिगन्त में उसका यश प्रसृत होता है।

उपनिषद् के इस संकल्प में, निर्देश में, व्रत में प्रत्येक प्राणी को अगाह किया गया है कि जो उपर्युक्त लाभों को चाहता है वह माँस का सेवन कभी न करे।

आज विश्व का प्रत्येक प्राणी माँस को अपना पौष्टिक आहार मानकर निस्संकोच रूप से अण्डा, मछली, मुर्गा, गौ, बकरी आदि के माँस को खाता है, निश्शंक होकर विविध व्यंजनों के रूप में सेवन करता है, यह किसी से छिपा नहीं है। हमारे चिकित्सक भी निस्संदिग्ध होकर शरीर की पुष्टि के लिए अण्डा, माँस आदि को खाने का निर्देश करते हैं और सरकार भी फिश फार्म, मुर्गी फार्म आदि के संवर्धन के लिए पूर्ण सहयोग करती है। संसद् में इन फार्मों की बढ़ोत्तरी के लिए विचार-विमर्श होते हैं, आकाशवाणी, दूरदर्शन पर परिचर्चायें होती हैं। इस मांस भक्षण से होता क्या

है, यह न हम विचारते हैं न चिकित्सक, न ही सरकार। पर परमात्मा जो सर्वद्रष्टा है वह तो अच्छा बुरा सब कुछ निहार रहा है, उसकी जन्म व्यवस्था के अनुसार मांस का सेवन करने वाले मुर्गी, मछली, बकरी आदि के शरीर के ढांचे वाले उत्पन्न हो रहे हैं। उन पशु–पक्षियों के हाथ–पैरों के सदृश लूली–लंगड़ी, पोलियो, अर्धाङ्गवात आदि रोग से मारी हुई हमारी सन्तति पैदा हो रही है। हार्ट अटैक, रक्तचाप, मधुमेह, टी०बी० आदि साध्य–असाध्य सभी प्रकार के रोग हो रहे हैं। **उपनिषत्कार ने इसी तथ्य का स्पष्ट रूप से संकेत किया है कि इन रोगों का मूल कारण मांस भक्षण ही तो है। जो मांस भक्षण नहीं करेगा वह शरीर के किसी भी अवयव से वक्र और विकृत नहीं होगा।** आँख, नाक, कान, पेट आदि शरीर के किसी भी अवयव में रोग का होना शरीर की वक्रता ही है।

आजकल राष्ट्र से विकलाङ्गता को दूर करने के लिए राष्ट्र के उच्च चिकित्साधिकारियों ने बड़े–बड़े **पोलियो ड्राप्स** पिलाने के अभियान चलाये हुए हैं तथा हस्पतालों में बच्चे के जन्म लेते ही समय–समय पर नाना प्रकार के टीके लगवाने का डॉक्टरों द्वारा चिकित्सा विधान में सुनिश्चित किया गया है, **किन्तु निश्चित जान लें हम जब तक मांसभक्षण नहीं छोड़ेंगे विकलाङ्गता भी हमारा पिण्ड नहीं छोड़ेगी** और राष्ट्र का धन बरबाद करके रहेगी, अतः उपनिषद् का वचन भली प्रकार से धारण करना चाहिए। यह व्रत किसी जाति, व्यक्ति या समुदाय के लिए नहीं है, सार्वभौम व्रत है, यह विश्व के समस्त जनों के लिए पालनीय है।

मांस भक्षण सृष्टि के आरम्भ काल में मात्र शेर, चीता, बाघ, कुक्कुर, कीट, पतंग, बाज आदि पशु–पक्षियों का ही धर्म था, उनकी बपौती थी, लेकिन सृष्टि के आधे कल्प के बीतते–बीतते उनकी बपौती को मानव ने छीन लिया और उसका दावेदार बन गया, पोषक बन गया। देश के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री से लेकर निम्न वर्ग तक कोई मछली के रूप में, कोई मुर्गे के रूप में, कोई अण्डे के रूप में, कोई गौ आदि की चर्बी के रूप में अर्थात् किसी न किसी रूप में सभी मांस भक्षण कर रहे हैं और

इधर विकलाङ्गता को दूर करने के लिए शिविरों में, अभियानों में तेजी करने के आदेश दे रहे हैं। मूल कारण पर विचार न करके इस महामारी से बचने के लिए गोली-गोला खा रहे हैं, अपना धन बरबाद कर रहे हैं।

आज आवश्यकता है विचारशीलता की। यदि वस्तुतः हम पोलियो, हार्ट अटैक, आन्त्र-शोथ, लीवर की खराबी आदि रोगों से बचाव चाहते हैं, पूर्ण आयु, सुसन्तान, सुख, समृद्धि, कीर्त्ति चाहते हैं, स्वस्थ राष्ट्र की कल्पना करते हैं तो उपनिषद् के व्रत पालन का संकल्प लेना होगा तभी स्वस्थ राष्ट्र बन सकेगा।

कुछ जनों को शंका होगी कि हम तो मांस नहीं खाते हैं, अण्डा आदि का सेवन भी नहीं करते, पुनः क्यों हम रोग से पीड़ित हैं? हमें ज्ञात हो कि विश्व के समस्त रोगों की जड़ मांस भक्षण है। जब से मांस भक्षण प्रचारित हुआ तभी से रोगों की उत्पत्ति हुई, जैसा कि वसिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है-

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।

पृषध्रस्त्वघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्।।

वसि० धर्म सू० २१/२३।।

अर्थात् पहले मानवों में केवल तीन रोग थे, ईर्ष्या, भूख और बुढ़ापा, पृषध्र ने अघ्न्या=गौ का हनन करके ९८ नये रोग उत्पन्न कर दिये।

आज जो हम रोगों के भोग भोग रहे हैं, वह पूर्व जन्म-जन्मान्तरों में किये गये कर्मों का ही विपाक है अतः **दृढव्रती होकर माँस, अण्डा आदि न खाने का व्रत लें, संकल्प करें और प्रशासन मांस भक्षण एवं उसके संवर्धन का बहिष्कार करे, तभी ऐसे भीषण रोगों से मुक्ति सम्भव है।**

निराले ऋषि की निराली खोज (१)

कामक्रोधोभयं चापि मोहलोभमथो रजः।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा।।
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते।।

योगशिखोप० १।१०,११।।

अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, रजः, जन्म, मृत्यु, कृपणता, रोग, आलस्य, भूख, प्यास, लालच, भय, दुःख, विषाद तथा हर्ष इन दोषों से विनिर्मुक्त जीव को यहाँ शिव कहा गया है। तथाकथित 'शिव' उपासकों की प्रमाणभूत योगशिखोपनिषद् के अनुसार इन गुणों से विभूषित मानव देह-धारी, कैलाशवासी, पार्वती के पति, पिनाकपाणि, ताण्डवनृत्यकर्त्ता, त्रिशूल-धारी, सर्पकण्ठी, मृगचर्मधारक, डमरूवादक, आदि-आदि विशेषताओं से युक्त शिव जी का होना असम्भव है क्योंकि शरीर को धारण करने वाला जो भी मानव है वह अनायास ही काम क्रोधादि से सम्पृक्त हो जाता है अतः मानव देहधारी से भिन्न घट-घट व्यापी अजर-अमर परमपिता परमात्मा में ही मात्र ऐसे विशेषण घट सकते हैं, जो अकाय है, नेत्र, कर्ण आदि छिद्र-रूप गोलकों से रहित है, शुद्ध है, कवि है, मेधावी है, सर्वत्र व्यापक है, सृष्टि का निर्माण-संहारकर्त्ता है, वेदज्ञान का ज्ञाता है, दाता है, तात्पर्य हुआ जो सबसे महान् है, निराकार है, वह ही पूर्णतया शिव = सुखकारी, कल्याणकारी हो सकता है।

शिव सुख को कहते हैं जो दुःखों को, अज्ञान को मारता है (शेषति हिनस्ति इति शिवः, निरु० १०।२।१७)। इस सुख को कल्याण को सभी चाहते हैं। उस शिवकारी, कल्याणकारी की खोज भी सभी करते हैं पर कल्याण या कल्याणकारी कौन है ? सुख और सुखकारी कौन है ? इसका विवेक विरले ही कर पाते हैं। महाभारत काल के पश्चात् उन विरलों में एक मात्र नाम 'ऋषिवर दयानन्द' का है। चौदह वर्ष की अवस्था में जब मूलशंकर को उनके पिता ने कल्याणकारी शिव का माहात्म्य बताकर फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को उपासना करने के लिये रात्रि भर जागरण के लिये प्रेरित किया, बाधित किया तो उस किशोर को पिता की आज्ञानुसार

शिवरात्रि का व्रत और रात्रि के जागरण के लिये उद्यम करना पड़ा, उस जागरण के अवसर पर मूलशंकर को योगशिखोपनिषद् का उपर्युक्त श्लोक स्मरण था या नहीं, पर यह प्रतीत होता है कि **चौदह वर्ष की वय में चौदह विद्याओं = ४ वेद, ४ उपवेद, षड्दर्शन इन वेद वेदाङ्गादि चतुर्दश[१] ग्रन्थों का गुह्य ज्ञान उनकी हृदय गुहा में निगूढ़ था** और उसके प्रकाश, प्रचार के लिए मन में अन्तर्निहित दृढ संकल्प था, जिसके आधार पर चौदह वर्षीय मूलशंकर शिव की निष्क्रियता को बताये गये गुणों के विपरीत देख अपने पिता से तर्क कर बैठे। वेद के इस मन्त्र–

"यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः" ।। ऋ० ५।४४।१४।।

"जो जागता है उसको यह सोम = शान्तिदायक परमात्मा कहता है मैं तुम्हारा हूँ, मित्रता के स्थान में हूँ, मैं तेरा मित्र हूँ" ने उन्हें व्रत तोड़ने को प्रेरित किया। तदनुसार मूलशंकर रात्रि के जागरण को त्याग कर अपनी आत्मा के जागरण के लिये सत्य परमात्मतत्व के दर्शन के लिये, सच्चे शिव की खोज के लिये पिता की आज्ञा लेकर वहाँ से उठ खड़े हुये।

महर्षि दयानन्द का यह जागरण मानव जाति का जागरण था। मोहमाया के बन्धन से नाता तोड़कर, माता-पिता के स्नेह वात्सल्य को छोड़कर, धन, वैभव के सुख को भुलाकर कल्याणकारी शिव का अन्वेषण, उसको पाने की उत्कण्ठा राष्ट्र का जागरण था। महर्षि के चौदह वर्षीय मानस ने अपने देश की जर्जर अवस्था का पूर्णतया ज्ञान कर लिया था, क़हीं नारियों का करुणक्रन्दन है, कहीं मूक गौओं के आँसू हैं। मानव मानव को शत्रु समझ रहा है, भ्रष्टाचार चरम सीमा तक पहुँच गया है। आर्यावर्त्त विखण्डित हो रहा है, मानव जाति निस्तेज हो रही है, ईश्वर भक्ति के रूप में ईंट-पत्थर, औषधि, वनस्पतियाँ, लोहा, ताँबा, सोना-चाँदी आदि धातुओं को पूजित किया जा रहा है, नाना देवी देवताओं का शैवाल लहलहा रहा है, भूत-प्रेत, झाड़-फूँक, आदि का पाखण्ड सबको खा रहा है, इन सबका एकमात्र कारण सच्चे परमात्मा का, सच्चे शिव का ज्ञान न होना ही है।

---

१. अन्यत्र १४ विद्यायें इस प्रकार बतायी हैं–

अङ्गानि वेदाश्चत्त्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्यास्त्वेताश्चतुर्दश।।

वायु०पु० ६१।७८।।

अर्थात् षडङ्ग सहित ४ वेद, मीमांसा = कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र = मनुस्मृति आदि, न्याय = तर्क और पुराण = ऐतरेय आदि ब्राह्मण ये १४ विद्यायें हैं।

महर्षि दयानन्द गृह त्यागकर निकल पड़े, और उन्होंने गिरि-कन्दराओं में घूमते हुये, कष्टों को सहते हुये वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन करने के पश्चात् यह तथ्य सामने रखा कि सबका पूज्य, उपास्य वह "ओ३म्" शब्द वाच्य परमात्मा ही है। उसी सत्ता के शिव, रुद्र, महेश, शंकर, ब्रह्मा आदि अनेक नाम हैं। वे अनन्त नाम परमात्मा से अतिरिक्त जड़-चेतन पदार्थों के भी हैं और मुख्य रूप से उस परमात्मा के ही हैं और वे सभी नाम परमात्मा वाच्य **ओ३म् पद में ही सन्निहित हैं** जो परमात्मा के अतिरिक्त किसी का वाचक नहीं है। उसी ओ३म् की उपासना के लिये महर्षि ने पाखण्ड खण्डिनी पताका को लहराया जिस पताका के मध्य **"ओ३म्"** यह शब्द अंकित था।

परमात्मा के नामों की व्याख्या करते हुये सर्वप्रथम महर्षि ने **ओ३म्** शब्द की व्याख्या की और लिखा **"यह ओ३म् शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है", ओ३म् यह तो केवल परमात्मा का ही नाम है"** सत्या० प्र०। शिव आदि शब्दों को छोड़ महर्षि ने **'ओ३म्'** की मुख्यता बताकर तथा उसकी उपासना का फल बताकर अपना एक नया मन्तव्य स्थापित नहीं किया अपितु वेद तथा वेदाङ्गादि शास्त्रों के तथ्य को स्थापित किया है। **'ओ३म्'** पदवाच्य परमात्मा की उपासना को सभी उपनिषदें, स्मृतियाँ, दर्शन, निरुक्तादि शास्त्र कहते हैं-

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।।

ऋ० १।१६४।३९।।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुये यास्क महर्षि लिखते हैं **कतमत् तद् एतत् अक्षरम् ? ओ३म् इत्येषा वागिति शाकपूणिः। ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेषु।।**

निरु० १३।१०।।

अर्थात् यह अक्षर कौन है ? शाकपूणि का मत प्रस्तुत करते हुये यास्क ने कहा- **यह अक्षर अविनाशी ओ३म् पदवाच्य वाक् है** जिस उत्कृष्ट ओ३म् वाच्य में ही ऋग्वेदादि ऋचायें रखी हैं वह उन ऋचाओं का देने वाला है, तथा जो नाना देवता वाले मन्त्रों में वर्तमान है, प्रतिपादित है। महर्षि यास्क के इस प्रकरण से भली प्रकार स्पष्ट है कि सृष्टि का ज्ञेय **मुख्य तत्व ओ३म् पदवाच्य**

ब्रह्म है अत एव यास्क ने शिव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश् आदि नामों को नहीं दिया अपितु परमात्मा वाचक ओ३म् शब्द को ही उद्धृत किया है, यतः यह "ओ३म्" शब्द ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामों की तरह परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का वाचक नहीं है, और यह शब्द शिव, विष्णु आदि नामों की अपेक्षा अर्थ बहुलता के सामर्थ्य विशेष को भी रखता है।

तथा च-

विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्त्तास ऊतये। अग्निं गीर्भिर्हवामहे।।

ऋ० ८।११।६।।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुये यास्क लिखते हैं-**विप्रं विप्रासोऽवसे विदुर्वेद विन्दतेर्वेदितव्यम्, विमलशरीरेण वायुना विप्रस्तु हृत्पद्मनिलयस्थित-मकारसंहितमुकारं पूरयेत् मकारनिलयं गतं, विप्रं प्राणेषु बिन्दुसिक्तं विकसितं वह्निस्तेजः प्रभं कनकपद्मेष्वमृतशरीरममृतजातस्थितममृतवाचा अमृतमुखे वदन्ति (अग्निं गीर्भिर्हवामहे) अग्निं सम्बोधयेत्।** निरु० १४।३२।।

अर्थात् **विप्रम्** = विप्र को ज्ञानी, मेधावी को (**विप्र इति, मेधावीनाम,** निघ० ३।१५), **विप्रासः** = बुद्धिमान् लोग अपनी रक्षा के लिये जानें। इस मन्त्र में विप्र शब्द परमात्मा तथा योगी दोनों के लिये आया है। उस विप्र को विप्र कैसे जानें ? इसकी विधि बताते हुये यास्क लिखते हैं- **वायुना** = प्राणायाम पूर्वक विमल शरीर से ज्ञानी हृदय रूपी कमल गृह में **'अकार सहित उकार को, जो मकारगृह = मकार में जो पूर्ण होता है उसे भरें अर्थात् "ओ३म्"** को, जो विप्र है, प्राणों में बिन्दु के समान सिक्त है, विकसित है, वह्नि तेज की प्रभा वाला है, सुवर्ण अर्थात् हृदयपद्म में जिसका अमृत शरीर है, अमृतों, मुक्तों से जाना जाने वाला है, उसको अमृतवाणी से अमृत मुख में **हवामहे** = बुलावें।

यहाँ यास्क ने अग्नि का अर्थ ओ३म् किया है, क्योंकि अग्नि आदि नाम इस **'ओ३म्'** में समाहित हैं इसलिये महर्षि दयानन्द ने लिखा:- **अ उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक ओ३म् समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे-अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि, मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है।**

सत्यार्थ० प्र०पृ० ६।।

पदवाच्य सर्वरक्षक सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने हारे शिवकारी, कल्याणकारी परमात्मा की प्राप्ति बिल्वपत्र, पुष्प आदि भौतिक साधनों के द्वारा असम्भव है। उस महान् तत्व का दर्शन मानव के शरीर में स्थित आत्मा के द्वारा ही सम्भव है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में परमात्म दर्शन शरीर में बताया गया है-

अन्तः पुरुषे ज्योतिः तस्यैषा दृष्टिः। यत्रैतदस्मिञ्छरीरे।।

छा० उ० ३।१३।७,८।।

अर्थात् पुरुष में जो ज्योति है उसको प्रत्यक्ष देखना है, तो शरीर में देखो।

ऋचो अक्षरे० इस मन्त्र का अध्यात्म अर्थ करते हुये, निरु० १३।११ में यास्क लिखते हैं **"शरीरमत्र ऋक् उच्यते, यदेनेन अर्चन्ति"** अर्थात् शरीर ऋक् है, क्योंकि इसके द्वारा अर्चना, उपासना की जाती है। इसी प्रकार-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।।

ऋ० १।१६४।२०।।

की व्याख्या में लिखा- **"सुपर्णा सयुजा सखाया" इति आत्मानं परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति शरीर एव तज्जायते"** निरु० १४।३०, **सुपर्ण** = अच्छी गति करने वाला, **सयुजा** = साथ-साथ रहने वाला मित्र जीवात्मा अपनी आत्मा को परमात्मा के प्रति उठाता है अर्थात् भक्ति में लगाता है। यह उठाना, भक्ति करना शरीर में ही होता है क्योंकि अन्य प्रस्तर आदि जड़ पदार्थों में उठाने की या भक्ति की क्रिया नहीं हो सकती।

तात्पर्य हुआ जब हम भौतिक साधनों को छोड़कर परमात्मा की प्राप्ति में मात्र अपनी आत्मा और मन को ही साधन बनाते हैं तब उसकी प्राप्ति होती है। जैसा कि कणाद महर्षि ने **"आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्म-प्रत्यक्षम्"** वै०द० ६।१।११ सूत्र में स्पष्ट किया है, **आत्मनि** = आत्मा = परमात्मा में, **आत्ममनसोः** = आत्मा तथा मन के, **संयोगविशेषात्** = संयोग विशेष से, **आत्मप्रत्यक्षम्** = आत्मा = परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। यास्क महर्षि का **"शरीर एव तज्जायते"** यह वाक्य बड़े कमाल का है सारी कल्पनाओं को, विकल्पों को साफ करने वाला है।

साकार ससाधन परमात्मा की उपासना करने वालों की जानी मानी मैत्रेय्युपनिषद् में सुस्पष्ट रूप से लिखा है-

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद् बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय।।
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज।।
मैत्रेय्युप० २।२६,२८।।

अर्थात् मुमुक्षु के लिये पत्थर, लोहा, मणि, मिट्टी के विग्रहों की पूजा पुनः-पुनः जन्म भोग कराने वाली है, इसलिये यति पुनः न उत्पन्न होने के लिये अर्थात् मुक्त होने के लिये अपने हृदय में ही अर्चना करे, बाह्यार्चन को छोड़े, एवं वासना के साथ बाह्य दृश्यों को छोड़कर केवल प्रथम दर्शन में जिस आत्मा का प्रकाश हुआ है उसी को भजे।

इस प्रकार सिद्ध हुआ 'ओ३म्' पदवाच्य निराकार व्यापक ब्रह्म की भौतिक साधन विरहित उपासना करने से ही मनुष्य मुक्ति के मार्ग की ओर अग्रसर होता है और जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होता है।

बड़े ही गद्गद भाव से यास्क महर्षि ने निरुक्त की समाप्ति में अन्तिम खण्ड में कहा **"ब्रह्मणः सारिष्टं सरूपतां सलोकतां गमयति य एवं वेद"** निरु० १४।३७।।

अर्थात् अतिस्तुतियों में कहे गये उस परब्रह्म **'ओ३म्'** के स्वरूप को जानकर जीवात्मा ब्रह्म की अहिंसा को, उसके रूप को, तथा उसके आनन्द लोक को प्राप्त कर लेता है, जो उसकी इस प्रकार से उपासना करता है।

वेदादिशास्त्रोक्त इसी परमात्मतत्व को जन-जन तक पहुँचाने के लिये और मानव जाति को ब्रह्म तक पहुँचाने के लिये महर्षि दयानन्द ने शिवरात्रि के पर्व पर अपनी आत्मा को जगाकर अपने को लोकोपकार में झोंक दिया। उनके लोकोपकार का प्रमुख शस्त्र बना मूर्तिपूजा का खण्डन और व्यापक निराकार का प्रतिपादन। महर्षि ने अपने ग्रन्थों में, एवं सर्वत्र भ्रमण करते हुये लोक प्रसिद्ध बम बोले के भोले भक्तों को सचेत किया कि ए लोगो ! प्रस्तर पूजन से अपनी आत्मा को मत कुचलो, उसमें परम प्रकाश का प्रकाश आने दो और दुःखों की भित्ति ढहने दो।

१. सायङ्कालीन दैनिक पत्र 'गाण्डीव' में ४ मार्च २००० को पृ. ३ पर प्रकाशित।

सच्चे शिव का दर्शन (२)

संवत् १६२३ में **'कुम्भ संक्रान्ति'** के अवसर पर हरिद्वार में महर्षि दयानन्द ने **'पाखण्ड खण्डिनी पताका'** गाड़ी थी। उस समय मेरे देश में पोपलीला के सघन वन लहलहा रहे थे, पौराणिक गाथायें एवं उनके माहात्म्य कोमल ललित लताओं के सदृश फैले हुये थे। उस समय तक लोगों ने मूर्त्तिपूजा का खण्डन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का अमूल कथन, पुराणों, पर्व, तीर्थ स्थान माहात्म्य का मिथ्यात्व कथन आदि नहीं सुना था। संस्कृत भाषा का पठन-पाठन इस निम्न दशा को प्राप्त हो गया था कि गीता को बाँचने वाले, कथा करने वाले **"सर्वधर्मान् परित्यज्य"** गी० १८।६६ इस श्लोक का अर्थ करने में असमर्थ हो गये थे, यहाँ धर्म का त्याग कहा गया है कि अधर्म का इस विवेचन में अक्षम हो गये थे।

बांपं आंजां नंमंस्कृंत्यं पंरं पांजं तंथैंवं चं।
मंयां भंगंवांनंदांसेंनं गींतां टींकां कंरोंम्यंहंमूं।।

व्यवहारभानु पृ०३२।।

ऐसे श्लोकों द्वारा संस्कृत भाषा की खिल्ली उड़ाई जा रही थी। पतञ्जलि महर्षि निर्मित पातञ्जल महाभाष्य को तत्कालीन पण्डित **"महाभाष्य तो व्याकरण का ग्रन्थ ही नहीं"** इस प्रकार के प्रतिपादन में लगे हुये थे।

कर्म पत्र का स्थान जन्मपत्रिंका ने, **"तस्य वाचकः प्रणवः"**, योग० द० १।२७ तथा **तज्जपस्तदर्थभावनम्**, योग० १।२८, का स्थान **"सोऽहम्, शिवोऽहम्, हरे-कृष्णा, हरे-रामा"** आदि ने ले लिया था। **"जीवो ब्रह्मैव नापरः"** शंकराचार्य के इस जाल ने ईश्वर के स्वरूप से विमुख कर दिया था। निराकार साकार जाना जाता था। मत-मतान्तरों के संग्राम का प्राबल्य था, यज्ञ वेदियों का स्थान मन्दिरों में परिवर्तित था। ईर्ष्या, द्वेष, दुराचार, भ्रष्टाचार के धूम्र से लोगों की आँखें बन्द थीं और पण्डे पुजारी भांग छानने में मस्त थे।

कदाचित् विद्या का प्रसङ्ग होता, तो उस समय अवच्छेदकावच्छिन्न भाषा से विभूषित स्वामी विशुद्धानन्द, बाल शास्त्री आदि का ही सभी मुँह ताकते थे, वे पण्डित भी वेदों के दर्शन और ज्ञान से अनभिज्ञ थे। वेद दूसरे देशों की धरोहर बन चुके थे। हमारे पास प्रमाण रूप में पुराण, भागवत,

ब्रह्मसूत्र भाष्य आदि ही शेष थे। देश की मौलिक सम्पत्ति गौवें और नारियाँ सिसक रही थीं, ऐसे समय में विद्या ही जिसका शस्त्र था, सत्य ही जिसका किला था, परमात्मा ही जिसका सहायक था, ब्रह्मचर्य का तेज ही जिसका बल था, ऐसे बाल ब्रह्मचारी निर्भीक, घट-घट व्यापी, निराकार परमेश्वर भक्त दयानन्द ने अपनी ओजस्वी, तेजस्वी, वेदनिष्ठ वाणी से लोगों को उस घोर अज्ञानान्धकार से केवट की भाँति वेदज्ञान के तट पर पहुँचा दिया एवं पाखण्ड खण्डिनी पताका की छाया में वेदों का डंका बजा दिया।

महर्षि ने अपनी दिव्यवाणी से लोगों के अज्ञान मोह को हटाकर सुपथ दिखाया, जीवित माता-पिता की सेवा बताई और उन्हें चेताया कि सभी आडम्बर उस परमात्मा को न जानने के कारण ही हैं। मूर्तिपूजा का खण्डन इतिहास की साक्षी द्वारा प्रतिपादित किया। मूर्तिपूजा की निरर्थकता एवं चमत्कारिकता को निम्न शब्दों में निस्सार बताते हुये लिखा-

'जब मुसलमान मन्दिर-मूर्तियों को तोड़ते-फोड़ते हुये काशी के पास आये, तब पुजारियों ने उस पाषाण लिङ्ग को कूप में डाल और वेणीमाधव को ब्राह्मण के घर में छिपा दिया। जब काशी में काल भैरव के डर के मारे यमदूत नहीं जाते और प्रलय समय में भी काशीं का नाशं नहीं होने देते, तो म्लेच्छों के दूत क्यों न डराये ? और अपने राजा के मन्दिर का क्यों नाश होने दिया, यह सब पोप माया है।'

'जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर-मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्तियाँ कहाँ गई थीं ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते-फिरते। भला यह तो कहो जिसका रक्षक मार खाये उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें !'

सत्यार्थ० एका० पृ०३००, ३०५।।

महर्षि ने मूर्तिपूजा का खण्डन किसी विरोध या वैरभाव के कारण नहीं किया, अपितु इतिहास और वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से किया। महर्षि को यह अलौकिक ज्ञान फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को शिवलिङ्ग की निस्सार पूजा को देखकर हुआ था। जो परमेश्वर अकाय है, सृष्टि की प्रत्येक वस्तु

में रमा हुआ है, जिसे हमारी ये दो आँखें सर्वदा ही देखने में असमर्थ हैं, जिसकी दिव्यता, विलक्षणता वेदों में भरी पड़ी है, जिसे उपनिषदों के-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।।

कठो० ३।१५।।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।।

मुण्ड० उप० १।१।६।।

आदि वचनों के द्वारा व्याख्यात किया गया है। उपनिषद् के इन वचनों में विलक्षण परमात्मा की पहचान बड़े स्पष्ट शब्दों में कराई है। जो शब्द, रूप, स्पर्श आदि से रहित है, नित्य है, अनादि है, अनन्त है, अदृश्य है, जिसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसका कोई वर्ण नहीं, वंश नहीं, गोत्र नहीं, उसके कोई हाथ-पाँव, आँख-कान नहीं, वह विभु है, सर्वव्यापक है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अविनाशी है, सब भूतों का कारण है, जिसे धीर ज्ञानी जान लेते हैं और मृत्यु के मुख से दूर हो जाते हैं।

ऐसे परमेश्वर की पहचान शिवरात्रि के जागरण ने मूलशंकर को करा दी। चौदह वर्षीय मूलशंकर रात्रि के तृतीय प्रहर में कैलाशपति शिव के प्रभुत्व को देखने के लिये लालायित न रहते, तो सम्भव है उस शिव के दर्शन न होते, जिसके अनेक नाम हैं। कैवल्योपनिषद् में-

स ब्रह्मा सविष्णुस्सरुद्रस्सशिवस्सोऽक्षरस्सपरमः स्वराट्।
स इन्द्रस्सकालाग्निस्स चन्द्रमाः।।

कैवल्यो० १।८।।

कहकर शिव के अनेक नाम गिनाये हैं। ऐसे शिव की खोज के लिये वे मन्दिर के जाल से उठ खड़े हुये और गिरिकन्दराओं की पगडण्डियों का मार्ग पकड़ा।

परमेश्वर की प्राप्ति का रात्रि का तृतीय प्रहर शास्त्रों में बताया गया है, जिसे अश्विनी काल कहते हैं। उस समय आकाश में प्रकाश होता है और नीचे अन्धकार आच्छादित होता है-

तयोः काल ऊर्ध्वम् अर्द्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनु,

तमो भागो हि मध्यमः ज्योतिर्भाग आदित्यः।

निरु० १२।१।१।।

अर्थात् उन अश्विओं का काल आधी रात के पश्चात् प्रकाश के क्रमशः प्रवेश के साथ-साथ है। उस काल का तमोभाग मध्यम = उत्तर है और ज्योतिर्भाग आदित्य है।

इस अश्विनी काल = ब्राह्ममुहूर्त में परमात्मा को प्राप्त करने का आदेश निम्न वेदमन्त्र दे रहा है-

प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनावेह गच्छताम्।
अस्य सोमस्य पीतये।।

ऋ० १।२२।१।।

अर्थात् **अश्विनौ** = अश्विनी काल में, **प्रातः** = प्रथमतः, पहले, **युजा** = युक्त होवें, समाधिस्थ होवें **(युज समाधौ)**, **विबोधय** = उसको विशिष्ट रूप से जानें, **इह गच्छताम्** = और समीप जावें, **अस्य** = इस, **सोमस्य** = शन्तिदायक परब्रह्म की, **पीतये** = प्राप्ति के लिये।

मन्त्र से स्पष्ट हो रहा है, कि शान्तिदायक परमेश्वर अश्विनी काल में समाधिस्थ होने पर प्राप्त होता है। अपने शरीर व इन्द्रियों को बाह्य क्रिया-कलापों में लगाने से नहीं, और न दिन भर के घण्टे घड़ियाल के पचड़े से।

अदेवाद्देवः प्रचता गुहा यन्नप्रपश्यमानो अमृतत्वमेमि।
शिवं यत् सन्तमशिवो जहामि स्वात् सख्यादरणीं नाभिमेमि।

ऋ० १०।१२४।२।।

अर्थात् **यत्** = जो, मैं जीवात्मा, **देवः** = प्रकाश एवं दिव्यगुण वाला होता हुआ, **अदेवात् प्रचता** = अदेव अर्थात् प्रकाश या ज्ञान से रहित अपनी देह को जानकर, **गुहायन्** = हृदय आकाश में प्रवेश करता हुआ, **प्रपश्यमानः** = तत्व का ज्ञान करता हुआ, **अमृतत्वम् एमि** = अमृतत्व को प्राप्त होता हूँ। जब मैं, **अशिवः** = अकल्याणकारी, दुःखद दुर्वृत्तियों को त्यागता हूँ, या देह को, **जहामि** = त्यागता हूँ तब, **स्वात् सख्यात्** = अपनी मित्रता से, **यत्** = जो, मैं, **सन्तं** = सत्तारूप वाले, **अरणीम्** = अग्नि उत्पादक अरणी के तुल्य, तेज के उत्पादक मूल कारण, **शिवम्** =

अतिकल्याणकारी सुखप्रद, नाभिम् = नाभिरूप, संसार के केन्द्र प्रभु को, एमि = प्राप्त होता हूँ।

मन्त्र में प्रतिपादित किया गया है कि शिवरूप परमात्मा, तब प्राप्त होता है जब हम देव बन जाते हैं, अपनी हृदय गुहा में प्रवेश करते हैं और अपनी अशिव दुःखदाई वृत्तियों को, दुर्गुणों को, दुर्वासनाओं को त्यागते हैं। शिव की प्राप्ति, लिङ्ग पूजा, पत्र पूजा, पुष्प पूजा, नैवेद्य आदि से नहीं।

धन्य है महर्षि दयानन्द जिसने शिवलिङ्ग पर फुदकते चूहे के करतव से परख लिया कि वह शिव इन आँखों से नहीं, हृदय में मिलेगा और हृदय में ढूंढने के लिये स्वयं जगे, व जन-जन को जगाया। अनेकों ने महर्षि की पाखण्ड खण्डिनी पताका के नीचे आकर सच्चे शिव को खोजने में अपने को समर्पित कर दिया। आगरा निवासी पं० सुन्दर लाल ने शिव पूजा छोड़ दी, महर्षि के अमोघ वाणी के तेज से अचरौल के ठाकुर रणजीत सिंह की मूर्त्तिपूजा से आस्था उठ गई, जयपुर के शिवदयाल नामक पुजारी ने मूर्त्तिपूजा का त्याग कर दिया, कई सेठों ने मन्दिर बनवाने के विचार छोड़ दिये। रामघाट के पुराने मूर्त्तिपूजक ब्रह्मचारी क्षेमकरण दास जिसकी पूज्य मूर्तियों का भार २० कि० ग्राम था, उस पर महर्षि के उपदेशों का ऐसा प्रभाव हुआ कि सारी प्रतिमायें गंगा में विसर्जित कर दीं। पुष्कर के एक व्यक्ति के पूछने पर दयानन्द ने कहा- 'शिव कल्याणकारी परमेश्वर का नाम है उसे मैं मानता हूँ' परन्तु पार्वती के पति में विश्वास नहीं रखता।

यह फाल्गुन मास आर्यावर्त के लोगों के लिये धन्य हो गया, फाल्गुन बदी दशमी संवत् १८८१ को महर्षि ने यह भौतिक शरीर ग्रहण किया, तथा इसी फाल्गुन मास की बदी चतुर्दशी संवत् १८९४ को ज्ञान बोध हुआ, जिसके द्वारा दयानन्द ने देश को आर्ष परम्परा की ज्ञानाग्नि दी, स्वाभिमान दिया, निराकार परमेश्वर की उपासना दी, वेदों का ज्ञान विस्तृत किया, नारी जाति का सम्मान जगाया, अज्ञान, अन्धविश्वास जड़ पूजा से बचाया तथा कुल और देश के गौरव को बढ़ाया। यह शिवरात्रि, बोध रात्रि प्रतिवर्ष आती रहे और हमें जगाती रहे।

---

१. सायङ्कालीन दैनिक पत्र 'गाण्डीव' में २१ फरवरी २००१ को पृ० ५ पर प्रकाशित।

जब शिवरात्रि बोधरात्रि बनी (३)

यह शाश्वत सत्य है कि रात्रियाँ प्रतिदिन आती हैं और चली जाती हैं एवं प्रलयकाल पर्यन्त इनके आने-जाने का क्रम चलता भी रहेगा। किन्तु फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि, रात्रि न होकर महारात्रि बन गई है। वैसे तो मनुष्य जिन दिन-रातों में नित्य सोना-जागना करता है फिर भी वह उनका महत्व नहीं समझता, जो कभी-कभी समझता है। कादाचित्क दिन-रात के महत्व को समझने का कारण मनुष्य की मात्र आत्मा होती है, वो भी साधारण नहीं, दिव्यात्मा, जो रात्रियों व दिवसों का महत्व बना जाती है। उन दिव्यात्माओं में महापुरुष शिव भी हैं जिनका आज के दिन इस जगतीतल पर विवाह हुआ, वे इतने धर्मात्मा, परोपकारी, पराक्रमी थे कि प्रसिद्धि को पा गये, और इतने प्रसिद्ध हुये कि लोगों ने उन्हें भगवान् कोटि तक पहुंचा दिया। वेद के निराकार, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वाधार शिव में और महापुरुष शिव में क्या अन्तर है ? इसका भेद करना भी कठिन हो गया। महापुरुष शिव को ही भगवान् मान उनका अर्चन-पूजन अन्य देवों की भाँति होने लगा। इन भगवत् कोटि शिव के अनुयायी गुजरात प्रान्त, टंकारा ग्राम, मौरवी राज्य, जीवापुर मोहल्ला, काठियावाड़ के औदीच्य ब्राह्मण श्री **कर्षनलाल जी तिवारी** भी थे, जिनका अपना शिव पूजन के लिये शिव मन्दिर नगर से बाहर बना हुआ था।

उन कर्त्तव्य कठोर विशिष्ट पुरुष कर्षनं जी की **"पिता"** इस उपाधि का मूल अर्थात् एक पुत्र सन् १८२५ में उत्पन्न हुआ जिसका नाम मूलशंकर रखा। चौदहवें वर्ष में मूलशंकर को पिता ने शिव की महत्ता बताकर व्रत, पूजा आदि करने के लिये प्रेरित किया, प्रेरित ही नहीं अपितु पू. माता **अमृताबाई के विरोध** करने पर भी परम्परानिष्ठ, कर्त्तव्यमूर्ति कर्षन जी ने बालक से दृढ़तापूर्वक व्रत करवाया। मूलशंकर भी व्रत का संकल्प कर अपने पिता की प्रेरणा, आज्ञा और आस्था के अनुरूप शहर के बाहर जो उनके वंश का शिवालय था वहाँ जा पहुँचे और सचेष्ट होकर प्रत्यक्ष शिव

दर्शन के लिये बैठ गये। रात्रि के निस्तब्ध नीरव वातावरण में मूलशंकर दो प्रहर तक अपलक देखते रहे। तीसरे प्रहर के आते-आते मन्दिर के सभी भक्त पुजारी व उनके पूज्य पिताजी भी निद्रा देवी की माया में मूर्च्छित हो गये और मूलशंकर आंखों में छीटें देकर आस लगाये निहार रहे थे, कि शिव आवेंगे और वरदान प्रदान करेंगे, पर ऐसा तो कुछ न हुआ, हुआ यह, कि उस कैलाश पर्वतवासी शिव के प्रतीक लिङ्ग पर जो जन-जन का पूज्य था, उपास्य था उस पर **आखु = चूहा** आ धमका और उस वज्रधारी, धनुर्धारी, कृत्तिवासा, पर्वतवासी शिव पर वज्र, धनुर्विहीन चूहे ने आक्रमण कर दिया एवं अपनी धृष्टता, निर्द्वन्द्वता, नोंच-खरोंच, लेहन-खादन, मल-मूत्र त्याग आदि से महादेव कहे जाने वाले शिव की महिमा में बट्टा लगा दिया। उसे देख बाल मन मूलशंकर जो उस रात्रि के जज थे, उन्होंने चूहे के आक्रमण संबन्धी अपने पिताश्री से प्रश्नोत्तर किये और चूहे के आक्रमण की पृष्ठभूमि को समझना चाहा, पर पिताश्री निरुत्तर थे !

फिर क्या था मूलशंकर अपने जजमेंट को सबको सुनाने के लिये अपना व्रत तोड़ शिव मन्दिर से चल पड़े, यानी चूहे की बहादुरी और शिवलिङ्ग की निष्क्रियता ने कैलाशवासी शिव की आस्था को चकनाचूर कर दिया, उनकी सर्वदा के लिये मूर्तिपूजा से आस्था उठ गई। सबका निर्माता, सबका मूल कारण वस्तुतः मूलशंकर कौन है ? इसकी खोज के लिये कर्षन जी के पुत्र मूलशंकर जी ने व्रत ले लिया और जो शिवरात्रि अब तक मात्र **शिवरात्रि ही थी, वह अब बोधरात्रि बन गई।**

संवत् १८८४ फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी के पश्चात् मूलशंकर इसी धुन में लगे रहते, कि कैसे उस शिव को जानूँ जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चलाता है पालता है एवं उसका संहार करता है। इस शिव की प्राप्ति की ललक में माता-पिता, बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति सभी कुछ छोड़ मूलशंकर संवत् १८६६ में किसी से कुछ न कहकर घर से भाग निकले, पकड़े गये, पुनः भागे फिर घर लौटकर नहीं आये। गिरि कन्दराओं, नदी-प्रपातों में घूमते-फिरते,

साधु-सन्तों को जानते समझते, स्वामी दयानन्द नाम धारण कर मथुरा पहुँचे। और उस त्यागी तपस्वी स्वनाम धन्य पूज्यपाद स्वामी दण्डी विरजानन्द से वेद-वेदाङ्गादि की शिक्षा ग्रहण की, ततः प्रसिद्ध धनुर्धारी, कृत्तिवासा, चन्द्रमण्डितभाल, त्रिनेत्रधारी शिव को ढूंढ निकाला और स्पष्ट कर दिया कि वेद का शिव भिन्न हैं, और हमारे महापुरुष शिव भिन्न हैं, तथा-'आखुस्ते पशुः' यजु० ३।५७ के रहस्य को प्रत्यक्ष उतार डाला। यह मन्त्रांश रुद्र देवता वाले मन्त्र का है, मन्त्र इस प्रकार है-

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा।

एष ते रुद्र भागः आखुस्ते पशुः। यजु० ३।५७।।

अर्थात् हे **रुद्र** = दुष्टों को रुलाने वाले (**रोदयतीति रुद्रः**, निरु० १०।१।३), **ते** = तुम्हारा, **एषः** = यह, **भागः** = सेवन है (**भज सेवायाम्**), **तम्** = उसे, **सह स्वस्राम्बिकया** = भगिनीस्वरूप वेदवाणी से (**सु अंसा** = **स्वसा**, निरु० ११।३।२८, **अबि शब्दे ण्वुल्- अम्बयति शब्दयति यया सा, तया**), **जुषस्व** = सेवा जा सकता है (**लडर्थे लोट् व्यत्ययेन**), यह वेदवाणी, **स्वाहा** = सुन्दर कथन हैं (**सु आह इति वा**, निरु० ८।३।१६), **हे रुद्र** = रुद्र, **एष ते** = तुम्हारा यह जो, **भागः** = सेवन है, **ते** = उसका, **पशुः** = दिखाने वाला (**पश्यन्ति येन स पशुः**, उणा० १।२७), **आखुः** = खनन करने वाला, शास्त्र या बुद्धि है (**आ समन्तात् खनति इति आखुः**, उणा० १।३३)।

मन्त्र से स्पष्ट हुआ कि जो **रुद्र** = शिव है उसे, **स्वस्राम्बिका** = वेदवाणी तथा **आखुः** = तीक्ष्ण बुद्धि से, **पशुः** = देखा जा सकता है।

सचमुच इस मन्त्र को गहराई से देखते हैं तो आश्चर्य से आँखे फटी की फटी रह जाती हैं कि उस रुद्र को जो शिव का पर्याय है उसको दिखाने वाली बुद्धि ही है जिसे मन्त्र में आखुः कहा गया है। पशु श. ‐ का अर्थ अग्नि, ज्योति, प्रकाश है क्योंकि इनके द्वारा पदार्थ का दर्शन होता है, अतः पशु = दिखाने वाला कहा जाता है। चूंकि पशु का दर्शन अर्थ है अतः

भौतिक पशुओं को भी पशु कहते हैं, क्योंकि वे सर्वदैव पश्यन्ति = अपनी पूर्ति के लिये हमें देखते रहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि वह रुद्र शिव बाह्य साधनों से नहीं देखा जा सकता, बुद्धि से ही उसका दर्शन किया जा सकता है, पशु शब्द आखु का विशेषण है।

और यह कितने कमाल की बात हुई, कि महर्षि दयानन्द शिव मन्दिर में जिस शिव की खोज के लिये कटिबद्ध हुये उसका कारण भी आखु = कृन्तन, खनन करने वाला, जो भूमि को उर्वरक बनाता है वह चूहा सहायक बना। और महर्षि दयानन्द का वेद के शब्दों में "आखुस्ते पशुः" आखु = चूहा पथ प्रदर्शक बन गया, जिसने उन्हें सच्चे शिव का अन्वेषक सिद्ध कर दिया।

महर्षि ने शिवलिङ्ग पर चढ़े चूहे की करामातों से समझ लिया था कि भारतवासियों ने अपनी इच्छा और अभिरुचि से मूर्ति के रूप में अनेक ईश्वरों की सृष्टि की है, जो किसी भी कार्य को करने में सर्वथा अक्षम है, और जो ईश्वर सृष्टि को चलाने वाला है उसे तो वेदादि शास्त्रों में अकाय, अव्रण, अशब्द, अस्पर्श आदि शब्दों से कहा गया है, उस निराकार ईश्वर को स्वकल्पित नव निर्मित मूर्तियों में झाँकना चाहते हैं, मिलना चाहते हैं। महर्षि ने यह भी भली-भाँति ज्ञात कर लिया था कि भारतवासियों की मूर्ति पूजा की प्रणाली ने आन्तरिक, आध्यात्मिक भावों को बाह्य बना दिया है। मानवता मनुष्य से दूर हो गई है, स्नेह संवेदना परदुःखानुभूति समाप्तकल्प हो गये हैं। आर्य जाति बिखर गई है, एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। मनों की दूरियाँ पृथिवी और आकाश के समान दीखती हैं। मनुष्य जाति जो एक है, वह हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध आदि विभागों में बँट गई है। सर्वव्यापक परमेश्वर के रचे सूरज-धरती, पानी आदि के समान होते हुये भी सभी अपनी धरती, अपना पानी के बटवारे में झुलस रहे हैं, देश पराधीन हो गया है। ये सभी बटवारे क्यों है? इन सबका कारण उस

घट-घट व्यापी परमेश्वर को एकदेशी बनाना तथा ईश्वर के नाम पर अपना-अपना नया पन्थ, नया मत स्थापित करना ही तो है।

महर्षि दयानन्द ने वेदों के अनुसार मूर्तिपूजा का खण्डन कर यही तो सुपथ दिखाना चाहा था, कि आर्यावर्त्त के लोग सच्चे ईश्वर को जान जायें, सभी एक हो जायें, सबके मन, विचार परिवारवत् मिल जायें और सम्पूर्ण राष्ट्र एक सूत्र में बंध जाये। जैसा कि वेद ने कहा-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानानामुपासते॥ ऋ० १०।१९१।२॥

अर्थात् सभी मिलकर चलें, बोलें और सभी के मन एक विचार वाले हों एवं जैसे पहले विद्वानों ने उस परमेश्वर को जानते हुये उपासना की है, वैसे ही **उपासते** = उपासना करें।

आज सर्वत्र भीषण संहार का ताण्डव मचा हुआ है जिसे शान्त करना तोपों, बन्दूकों, कानूनों से एवं शान्ति का पाठ पढ़ने-पढ़ाने से त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है, उसका **'एकमेव केवलमेकमेव' उपाय निराकार परमेश्वर की उपासना है,** जिसके लिये मन्दिर, मस्ज़िद, चर्च आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसके लिये तो अपने हृदयों में, **पशु = प्रकाश, उपासनाग्नि एवं अपने घर के आंगन में यज्ञाग्नि दीप्त करने की आवश्यकता है।**

वर्तमान समय में सम्प्रति प्रचलित बहुविध पूजा पद्धतियों को एक संकल्प लेकर छोड़ना होगा और जिस कारण हमारा बिखराव बना हुआ है, हिन्दू, मुस्लिम आदि की पहचान बनी हुई है, उसे वेद में कहे गये गुणों से विभूषित प्रत्यक्ष आखों से न दीखने वाले शिव की अन्तर्मुखी उपासना से ही दूर करना होगा, तभी हमारी शिवरात्रि कल्याणरात्रि बन सकती है।

❖❖❖

---

* सायङ्कालीन दैनिक पत्र 'गाण्डीव' में १२ मार्च २००२ को पृ० ४ पर 'शिवलिङ्ग पर चढ़ते चूहे के चित्र' के साथ प्रकाशित।

पृथिवी के धारक बैल एवं शेषनाग ? नहीं, परमात्मा !

कर्ण विवर में 'सृष्टि' शब्द आते ही रचना, निर्माण आदि अर्थ प्रस्फुटित होने लगते हैं, साथ ही 'सृष्टि' नाम सुनते ही सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों की रचना की ओर ध्यान आकृष्ट होने लगता है, यानी पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौलोक इन तीन विभागों के निर्माण का विषय सामने उपस्थित हो जाता है। पृथिवी में गगनचुम्बी पर्वतशिखरों, हवा से बातें करते हुए वृक्षों, कल-कल करती हुई नदियों, रजतीय आभा बिखेरने वाले अथाह समुद्रों, अपने कलरव से दिग्दिगन्त को गुञ्जायमान करने वाले पक्षियों, अपने हेष, रम्भण एवं दुग्धादि से परिपूर्ण करने वाले पशुओं और ज्ञान विज्ञान को बटोरने वाले, सौहार्द बाँटने वाले मनुष्याख्य जीवों को देख तथा अन्तरिक्ष में स्थित मेघों, तारा, धृष्ण्या, उल्का एवं विद्युत् आदि नामों को धारण करने वाली, तटतटा शब्दों वाली बिजली, अग्निजिह्व मरुतों एवं अन्तरिक्ष के अध्यक्ष वायु आदि को देख और तृतीय लोक द्यौलोक में चमचमाते तारों, ग्रहों, उपग्रहों, चन्द्रमा तथा प्रकाशों के प्रकाश सूर्य मण्डल को देख आबाल वृद्ध सभी का मन अचम्भित है। आखिर इनको बनाने वाला, चमकाने वाला, बेसहारा लटकाने वाला कौन है ? तथा किन साधनों से ? किस प्रयोजन से इन्हें बनाया है ? यह पृथिवी किसके आधार पर टिकी है ? आदि-आदि प्रश्न मस्तिष्क में कौंधते रहते हैं, मन मस्तिष्क को सोचने विचारने के लिये मजबूर करते रहते हैं।

महर्षि दयानन्द ने इन सभी प्रश्नों का सटीक समाधान ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, वेदभाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में वेदों तथा वेदाङ्गों के आधार पर किया है। महर्षि से पूर्व ब्रह्माण्ड की अद्भुत रचना को देखकर कुछ नास्तिक (माध्यमिक बौद्ध) सृष्टि की उत्पत्ति शून्य से हुई कहते थे, कुछ नास्तिक (ईसाई) अभाव से बताते थे और कई नास्तिक (मुसलमान) बिना किसी निमित्त के उत्पत्ति मानते थे, उनका तर्क था जैसे बबूल आदि वृक्षों के काँटे अकारण ही उत्पन्न हो जाया करते हैं उसी प्रकार जगत् रचना भी बिना किसी उपादान कारण के हो जाती है। और कई चारवाक,

आभाणक, जैन तथा योगाचार, सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक बौद्ध स्वभाव से ही जगत् रचना को जानते जनाते थे। पाँचवें कोटि के नास्तिक नवीनवेदान्ती ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है यानी इन वेदान्तियों की दृष्टि में सृष्टि की उत्पत्ति का उपादान कारण परमात्मा है। और वे अपने मत की सिद्धि में मुण्डकोपनिषद् का यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' मुण्ड० १।१।७।। यह वचन प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते थे।

महर्षि दयानन्द ने इन सभी मत-मतान्तरों के अज्ञान को, पाखण्ड को, वेद सूर्य की आभा से दूर कर सृष्टि रचना के गहन-गम्भीर, दार्शनिक विवेचन को दर्शाते हुए नासदीय सूक्त के मन्त्रों द्वारा स्पष्ट किया है कि **जगत् की रचना प्रकृति से हुई है जो उपादान कारण है, और उस रचना को करने वाला परमात्मा है जो निमित्त कारण है तथा यह रचना परमात्मा ने जीवों के उपकार के लिए की है।** रचना का मूल कारण प्रकृति है, इसका प्रतिपादन वेद ने इस प्रकार किया है-

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।।

ऋ० १०।१२९।३।।

अर्थात् इदं सर्वम् = यह सब दृश्यमान जगत्, **अग्रे** = सृष्टि के पूर्व काल में, **अप्रकेतम्** = प्रसिद्ध चिह्नों से यानी इन्द्रियों से न जानने योग्य, **सलिलम्** = फैले हुए जल सा, **आः** = था, **तमः** = मूल कारण, **तमसा** = अन्धकार से, **गूळहम्** = आवृत, **आसीत्** = था, **यत्** = जो, **आभुः** = कार्यरूप जगत् (आसमन्तात् भवति इति आभुः), **तुच्छ्येन** = कारण से, **अपिहितम् आसीत्** = ढका हुआ था, **तत्** = वह, **एकम्** = एकीभूत जगत् अर्थात् कारण से पृथक् दृष्टिगोचर नहीं होता था वह जगत्, **तपसः महिना** = अनन्त ज्ञान वाले परमात्मा के सामर्थ्य से, **अजायत** = उत्पन्न हुआ।

तात्पर्य हुआ जो दृश्य जगत् तमोरूप कारण प्रकृति में अदृश्य था वह परमात्मा के **तपः** = ज्ञान से उत्पन्न हुआ, और उस जगत् की रचना का उपादान कारण प्रकृति है। जगत् की रचना अभाव, शून्य या परमात्मा से नहीं है।

इस नासदीय सूक्त के मन्त्रों में यह भी बताया गया है कि सृष्टि को बनाने में परमात्मा निमित्त कारण ही है, उपादान नहीं है, यथा-

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।

ऋ० १०।१२६।७।।

अर्थात् **इयम्** = यह, **विसृष्टिः** = विविध सृष्टि, **यतः** = जहाँ से, **आबभूव** = उत्पन्न होती है, **यदि वा** = जिसके द्वारा, **दधे** = धारण की जाती है, **यदि वा न** = और अन्त में जब यह नहीं रहती अर्थात् अपने कारण में बदल जाती है, **अस्य** = इस सबका, **यः** = जो, **अध्यक्षः** = अध्यक्ष नियन्ता, **परमे व्योमन्** = सर्वव्यापक परमात्मा है, **सः अङ्गः** = वह इस जगत् को, **वेद** = जानता है, **यदि वा न** = और जब वह जगत् नहीं रहता अर्थात् प्रलय अवस्था में रहता है उसको भी, **वेद** = जानता है।

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में इस प्रकार लिखा है कि-

'हे अङ्ग = मनुष्य ! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलय करता है, जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है सो परमात्मा है। उसको तू जान और दूसरे को सृष्टि कर्त्ता मत मान'।

पृ० १६५।।

इस प्रकार मन्त्र से ज्ञात हुआ कि इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का करने वाला सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् परमात्मा है, वह इसका अध्यक्ष है। तात्पर्य हुआ परमात्मा से अतिरिक्त यह जगत् है, यदि नवीन वेदान्तियों के अनुसार परमात्मा ही जगत् में होने वाले पदार्थ होता, तो उसका अध्यक्षत्व नहीं बन पायेगा। कोई अन्य शास्य होगा तभी दूसरा शासक बन सकता है, जब प्रजा होगी तभी दूसरा उसका राजा कहा जा सकता है। एक

ही वस्तु में शास्य-शासक, राजा-प्रजा का कथन नहीं हो सकता।

जगत् का उपादान कारण प्रकृति ही है, इसका सुस्पष्ट संकेत ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४ वें सूक्त में किया है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।

ऋ० १।१६४।२०।।

अर्थात् **द्वा सुपर्णा** = दो सुन्दर गतिशील, उत्तम पालन शक्ति से युक्त, **सयुजा** = साथ रहने वाले, **सखाया** = समान ख्याति वाले, आत्मा इस नाम से ज्ञात होने वाले, **समानम्** = एक ही, **वृक्षम्** = व्रश्चनीय = प्रलयकाल में काट दिये जाने वाले विशाल ब्रह्माण्ड रूपी वृक्ष को (**वृक्षो व्रश्चनात्** निरु० २।२।५), **परि षस्वजाते** = आलिङ्गन करते हैं, **तयोः** = उनमें से, **अन्यः** = एक जीव, **पिप्पलम्** = संसार रूपी वृक्ष में बैठा हुआ पाप पुण्य रूप कर्म फल को, **स्वाद्वत्ति** = भोगता है तथा, **अन्यः** = दूसरा परमात्मा, **अनश्नन्** = कर्मफलों को न भोगता हुआ, **अभि चाकशीति** = चारों ओर अर्थात् जगत् के बाहर-भीतर सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहा है।

मन्त्र में सम्पूर्ण सृष्टि की कल्पना एक वृक्ष के रूप में की गई है तथा समस्त जीवों का कथन खाने वाले पक्षी के रूप में किया गया है और सर्वशक्तिमान् निराकार परमेश्वर का चित्रण न खाते हुए, चुपचाप बैठे सर्वत्र निहार रहे पक्षी के रूप में किया है।

तात्पर्य यह निकला कि इस नश्वर भूमण्डल में ईश्वर, जीव, प्रकृति तीन अनादि सत्तायें अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्त्व रखती हैं, ये तीनों एक दूसरे की क्षमताओं की पूरक हैं, प्रतिरूप नहीं। जो लोग शून्य से, अभाव से या स्वभाव से या जो "**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**" का उद्घोष करने वाले नवीन वेदान्ती केवल परब्रह्म को ही सृष्टि का निमित्तोपादान मानते हैं अर्थात् जड़ चेतन पदार्थों की रचना परमात्मा से मानते हैं, वे सब कथन वेदविरुद्ध, मिथ्या भ्रमजाल, कपोल कल्पना मात्र हैं। **जितना यह सच है कि यह जगत् निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, उतना ही यह सच है कि इसका उपादान कारण प्रकृति ही है।** नवीन वेदान्तियों के कथनानुसार

परमात्मा अभिन्न निमित्तोपादान कारण नहीं बन सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु का निर्माण निमित्त, उपादान तथा साधारण इन तीन कारणों के बिना हो ही नहीं सकता, जैसे लोक में निमित्त कारण कुम्हार के बिना घट नहीं बन सकता, उसी प्रकार निमित्तभूत परमेश्वर के बिना जगत् नहीं बन सकता। एवं जिस प्रकार लोक में घट निर्माण के लिये मिट्टी उपादान (मैटेरियल) का होना अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार सृष्टि रचना के लिए भी उपादान भूत पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँच तत्वों (कारणों) का होना भी परम आवश्यक है। उनके बिना सृष्टि की कल्पना करना, उत्पत्ति होना असम्भव है। किञ्च यथा घट अभिधान की पूर्णता के लिए चक्र, दण्ड आदि सामान्य निमित्तों की आवश्यकता है, तद्वत् जगत् रचना के लिए भी दिशा, काल, प्रकाश, ज्ञान आदि निमित्त साधारण की भी आवश्यकता है।

इस प्रकार वेदों के प्रमाणों के रहते मकड़ी के जाले के दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध करना कि परमात्मा ही जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है यह तथाकथित लोगों की भयङ्कर भूल है। यदि बुद्धि के कपाट खोलकर सोचेंगे तो ज्ञात होगा कि जाले का निर्माण मकड़ी के जड़ शरीर से होता है, उसमें स्थित जीव से नहीं। और यह निर्माण भी परमात्मा की अद्भुत रचना का ही प्रभाव है, क्योंकि अन्य जीव के शरीर के तन्तु से तन्तु का निकलना नहीं देखा जाता।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सृष्टि प्रकृति से बनी है, और परमात्मा ने प्रकृति से बनायी है। यहाँ साथ ही यह भी ज्ञात कर लेना चाहिए कि इस सृष्टि में प्रकाश फैलाने वाले सूर्यादि का तथा पृथिवी आदि को धारण करने वाला भी परमात्मा ही है। इसे वेदों में बहुधा कहा गया है-

इन्द्रो महना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः।।

साम० १५८८।।

अर्थात् इन्द्रः = परमैश्वर्यशाली परमात्मा, महना = अपनी महिमा से, रोदसी = द्यौलोक और पृथिवी लोक में, शवः = बल का (शव इति

बलनाम, निघ० २।९), **पप्रथत्** = विस्तार करता है, **इन्द्रः** = ऐश्वर्यशाली परमात्मा ने ही, **सूर्यम्** = सूर्य को, **अरोचयत्** = चमकाया है, ह = निश्चय से, **इन्द्रे** = उस इन्द्र शासक परमात्मा मैं ही, **विश्वा भुवनानि** = सब लोक-लोकान्तर, **येमिरे** = नियमित हैं, उसी की व्यवस्था में चल रहे हैं, **इन्द्रे** = उस प्रभु में ही, **इन्दवः** = सभी ऐश्वर्यशाली, **स्वानासः** = शब्द निहित हैं, वह ही शब्दों को देने वाला है।

मन्त्र का तात्पर्य हुआ पृथिवी आदि तीनों लोकों को बनाने वाला परमात्मा है और बेतार के तार चमकने वाले सूर्य आदि को लटकाने वाला भी परमात्मा ही है, सभी लोक उसके नियन्त्रण में हैं, शब्द रूप वेद ज्ञान को देने वाला भी वह इन्द्र परमात्मा ही है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा-

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्। यजु० १३।४।।

अर्थात् **सः** = वह परमात्मा, **पृथिवीम्** = अर्थात् प्रकाश रहित लोक-लोकान्तरों को, **इमाम्** = पृथिवी के इन पदार्थों को, **उत** = और, **द्याम्** = प्रकाश सहित सूर्यादि को, **दाधार** = धारण करता है।

उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्त्ति।

ऋ० १०।३१।८।।

अर्थात् **सः** = वह, **उक्षा** = सिञ्चन करने वाला, (**उक्षति सिञ्चति इति उक्षा-उक्ष सेचने**), **द्यावापृथिवी** = द्यौ लोक तथा पृथिवी को, **बिभर्त्ति** = धारण करता है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।

ऋ० १०।८५।१।।

अर्थात् **सत्येन** = सत्य स्वरूप कभी नष्ट न होने वाले परमात्मा ने, **भूमिः** = भूमि को, **उत्तभिता** = धारण किया है, **सूर्येण** = सर्वप्रेरक सर्व उत्पादक परमात्मा ने (**षू प्रेरणे, षू प्रसवैश्वर्ययोः**), **द्यौः** = अन्तरिक्ष और द्यौलोक को, **उत्तभिता** = धारण किया है।

उपर्युक्त वेद में कहे हुए तीनों लोकों के, परमात्मा के धारण कार्य को देख कर कवि ने **"शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्"** अर्थात् शेष के आधार पर पृथिवी है, ऐसा वचन परमात्मा के प्रति श्रद्धाभिभूत होकर कह दिया।

परमात्मा के सामर्थ्य से अनभिज्ञ लोगों ने वेद के 'उक्षा' शब्द को देख कर तथा कवि के 'शेष' शब्द को देख कर कहना प्रारम्भ कर दिया कि पृथिवी बैल के सींग पर तथा शेष अर्थात् सहस्र फण वाले सर्प के सिर पर टिकी हुई है।

पृथिवी के धारण विषयक लोगों की मान्यताओं को निराधार बताते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं-

"जो शेष सर्प और बैल के सींग पर धरी हुई पृथिवी स्थित बतलाता है उसको पूछना चाहिए कि सर्प और बैल के माँ-बाप के जन्म समय (पृथिवी) किस पर थी ? सर्प और बैल आदि किस पर हैं ? बैल वाले मुसलमान तो चुप ही रह जायेंगे ? परन्तु सर्प वाले (पौराणिक) कहेंगे कि सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर और वायु आकाश में ठहरा है। उनसे पूछना चाहिए कि सब किस पर हैं ? तब अवश्य कहेंगे परमेश्वर पर। जब उनसे कोई पूछेगा कि शेष और बैल किसका बच्चा है ? कहेंगे कश्यप कद्रु का और बैल गाय का। कश्यप मरीचि, मरीचि मनु, मनु विराट्, और विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। जब शेष का जन्म न हुआ था उसके पहले पाँच पीढ़ी हो चुकी हैं, तब किसने धारण की थी, अर्थात् कश्यप के जन्म समय में पृथिवी किस पर थी ? तो तेरी भी चुप मेरी भी चुप और लड़ने लग जायेंगे। इसका सच्चा अभिप्राय यह है कि जो बाकी रहता है उसको शेष कहते हैं।

सत्यार्थ० अष्ट० पृ० २१४।।

महर्षि के वचनों से स्पष्ट हुआ कि 'शेष' परमात्मा का नाम है क्योंकि परमात्मा अपने एक जैसे स्वरूप में सदा रहता है, चाहे प्रलय हो अथवा सृष्टि।

प्रकृति और जीव अपने स्वरूप में एक जैसे नहीं रहते। प्रलय काल में जीव का स्वरूप बदल जाता है, यानी जीव अपने शरीर को छोड़ देता है और सृष्टि में शरीर के आवरण को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार

प्रकृति भी प्रलय काल में अपने दृश्यरूप को छोड़ देती है, और सृष्टि में उस कार्यरूप दृश्यस्वरूप को धारण कर लेती है, इस कारण परमात्मा को शेष कहा जाता है, वैसे तो तीनों ही शेष हैं पर परमात्मा को ही मुख्यतया शेष कहा जाता है, यतोहि उसका प्रलय अथवा सृष्टि में स्वरूप नहीं बदलता है, और वह जन्म-मरण को प्राप्त नहीं करता है।

इसी प्रकार वेद का **'उक्षा' शब्द भी सिञ्चन करने वाले परमात्मा, सूर्य, मेघ एवं बैल आदि का वाचक है।** पर समस्त पृथिवी का सिञ्चन उस लघुकाय बैल के सामर्थ्य से बाहर है, अतः सूर्य और परमात्मा ही तीनों लोकों के धारण करने के प्रकरण में कहे जायेंगे, और उसमें भी परमात्मा ही मुख्य होगा, यतोहि परमेश्वर के बिना सूर्य सिञ्चन नहीं कर सकता, और न पृथिवी को अपने आकर्षण से धारण कर सकता है।

अतएव इन कृशकाय सर्प, बैल पर पृथिवी टिकी है ऐसा कहना बड़-बड़ाना मात्र ही होगा, यथार्थ नहीं। हम सोचें यदि इन पर पृथिवी का भार टिका हो तब इनकी चटनी नहीं बन जायेगी ? बनेगी ही।

इस प्रकार वेद के आधार पर सिद्ध हुआ कि **परमात्मा जगत् निर्माण का निमित्त कारण है, उपादान कारण तो प्रकृति ही है, तथा प्रकृति से निर्मित पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक एवं द्यौलोक को धारण करने वाला, सजाने-सँवारने वाला परमेश्वर है शेषनाग या बैल आदि नहीं।** वेद के **'उक्षा'** शब्द को देखकर मुसलमान भाइयों का बैल के सींग पर पृथिवी टिकी है यह कहना तथा पौराणिक भाइयों का शेष नाग पर पृथिवी का ठिकाना बताना मात्र अज्ञानता ही है विज्ञानता नहीं।

भगवान् की पहचान

प्रश्न १. भगवान् किसे कहते हैं ?

उत्तर. भग संज्ञा छः पदार्थों की है यथा-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।

विष्णु पु० ६।५।७४।।

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री = शोभा, ज्ञान तथा वैराग्य भग कहाते हैं। जो कोई भी इनसे युक्त होगा, वह भगवान् कहा जाता है।

प्रश्न २. जो सृष्टिकर्त्ता है क्या उसे भी भगवान् कहते हैं ?

उत्तर. जो सृष्टिकर्त्ता पुरुष है उसमें समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान और वैराग्य ये छः विशेषतायें तो हैं ही, और भी बड़ी-बड़ी विशेषतायें हैं अतः वह सबसे बड़ा भगवान् है। "भगः सकलैश्वर्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्" जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त वा भजने योग्य है इसलिए उस ईश्वर का नाम भगवान् है। "भज सेवायाम्" धातु से 'भग' बना, भग प्रातिपदिक से 'मतुप्' होने पर 'भगवान्' शब्द सिद्ध होता है। वेद में भी परमेश्वर को भगवान् कहा गया है-

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह।।

ऋ० ७।४१।५।।

अर्थात् हमारे लिए भगवान् एव = ऐश्वर्य सम्पन्न होने से तथा सबके सम्भजन योग्य होने से भगवान् नाम से प्रसिद्ध आप परमेश्वर ही, भगः अस्तु = पूजनीय हैं। तेन = आपकी कृपा से, वयं देवाः भगवन्तः स्याम = हम विद्वान् या सत्यवादी भी ज्ञान,

ऐश्वर्य आदि विभूति सम्पन्न हों। **हे भग** = हे ऐश्वर्यस्वरूप भगवान्! **तं त्वा** = उन सकल जगत् प्रसिद्ध आपको, **सर्वः इज्जोहवीति** = सब ही अपनी-अपनी इष्ट सिद्धि के लिए पुकारा करते हैं। **हे भग** = हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य के प्रदाता परमात्मन्? **सः भग नः इह** = वे भजनीय आप हमारे इन सब लौकिक वैदिक कर्मों में, **पुरः एता भव** = अग्रगामी हूजिए।

प्रश्न ३. भगवान् के होने का क्या प्रमाण है?

उत्तर. ऋग्वेद के मन्त्र द्वारा सुस्पष्ट है कि परमात्मा है, मन्त्र है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।

ऋ० १।१६४।२०।।

इस मन्त्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन अनादि सत्ताओं का वर्णन है। प्रकृति को मन्त्र में वृक्ष कहा गया है, परमात्मा और जीवात्मा को चेतन गुण वाले तथा परस्पर मित्र कहा गया है, और दूसरी विशेषता इन दोनों की यह बताई गई है कि इन दोनों में से एक जीवात्मा **वृक्ष = प्रकृति** के फल खाता है, प्रकृति के पदार्थों का भोग करता है और दूसरा परमात्मा प्रकृति के पदार्थों का भोग न करता हुआ चारों ओर दीप्त होता है, प्रकाशित होता है, मात्र द्रष्टा है। संक्षेप में जीवात्मा से भिन्न परमात्मा की सत्ता का मन्त्र में प्रतिपादन है।

प्रश्न ४. जैसे हम संसार की वस्तुओं को आँख से प्रत्यक्ष देखते हैं वैसे ही परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन क्यों नहीं होता?

उत्तर किसी पदार्थ के दर्शन न होने के ८ कारण बताये गये हैं यथा-

अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियाघातात् मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्यात् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च।।

सांख्यका० ७।।

अर्थात्- **अतिदूरात्** = अत्यन्त दूर होने से
सामीप्यात् = अत्यन्त समीप होने से
इन्द्रियघातात् = चक्षुरिन्द्रिय विकृत होने से
मनोनवस्थानात् = मन के अनवस्थित होने से
सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्म होने से
व्यवधानात् = व्यवधान होने से
अभिभवात् = किसी अन्य के तेज से पराभूत हो जाने से
तथा **समानाभिहारात्** = समान रूप होने से भी, कोई वस्तु दिखाई नहीं देती।

तो इस प्रकार यहाँ भगवान् के प्रत्यक्ष न होने में कुछ कारण हैं, यथा-

सामीप्यात् = परमात्मा के अति समीप होने से जैसे आँख में डला हुआ काजल आँख के समीप होने से दिखाई नहीं देता, वैसे ही दिखाई नहीं देता।

मनोऽनवस्थानात् = मन के एकाग्रचित्त न होने से भी परमात्मा नहीं दिखाई पड़ता, जैसे सामने पड़ी हुई वस्तु भी मन कहीं अन्यत्र हो तो दिखाई नहीं देती।

सौक्ष्म्यात् = अति सूक्ष्म होने से भी परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता जैसे वायु सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं पड़ता।

व्यवधानात् = अविद्या का व्यवधान होने से भी परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता। जैसे पर्दे के पड़ जाने से दृश्य वस्तु भी अदृश्य हो जाती है।

समानाभिहारात् = व्यापकता से एकाकार होने से परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता, जैसे दूध में पानी, आटे में नमक, पानी में शक्कर आदि एकाकार होने से दिखाई नहीं पड़ते।

प्रश्न ५. परमात्मा का साक्षात्कार कौन करता है ?

उत्तर जो अपहतपाप्मा जन होते हैं वे ही परमेश्वर का साक्षात्कार, करते हैं-

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।

मुण्ड० उप० ३।१।३।।

अर्थात् यदा = जब, पश्यः = द्रष्टा जीवात्मा, पुण्यपापे विधूय = पुण्य और पाप के संगम को दूर हटा कर अर्थात् केवल पुण्य ही पुण्य रह जाता है तब, रुक्मवर्णम् = ज्योतिः स्वरुप, ब्रह्मयोनिम् = वेद के आधार-कारण, उपदेष्टा, पुरुषम् = पुरुष, कर्तारमीशम् = सृष्टिकर्त्ता प्रभु को, पश्यते = देखता है, तदा = तब, निरञ्जनः = निर्दोष, निष्कलंक जीवात्मा, परमं साम्यमुपैति = प्रभु के परम सामर्थ्य को प्राप्त करता है।

तात्पर्य हुआ, मनुष्य जब अपने पाप पुण्य के सम्मिलित रूप से उठकर केवल पुण्य का ही संचय कर लेता है यानी अपने तन-मन आत्मा को यम-नियमों में तपाता है, चञ्चल मन को स्थिर कर लेता है, योगाभ्यास की साधना में रत रहता है, सत्कर्मों से अपने को मथता है तब कहीं जाकर वह ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का दर्शन करता है उसे प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है।

प्रश्न ६. ईश्वर कहाँ है ?

उत्तर. ईश्वर सर्वत्र व्यापक है यथा-

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।

यजु० ४०।१।।

अर्थात् इस सम्पूर्ण जङ्गम जगत् में जो कुछ है उसमें परमात्मा का वास है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा०।

कठो० ५।१२।।

अर्थात् वह एक सबको वश में करने वाला अन्तर्यामी सब भूतों में व्याप्त है।

प्रश्न ७. ईश्वर कैसा है उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर. वह परमेश्वर निराकार तथा ज्योतिःरूप है। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में परमात्मा का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

यजु० ४०।८।।

इस मन्त्र में परमेश्वर का स्वरूप बताया गया है, अर्थात् **सपर्यगात्** = वह परमात्मा सर्वव्यापक है, **शुक्रम्** = तेजः स्वरूप, **अकायम्** = शरीर रहित, **अव्रणम् अस्नाविरम्** = नस नाड़ी, छिद्रों रहित, **शुद्धम्** = शुद्ध, **अपापविद्धम्** = पाप रहित, **कविः** = तत्ववेत्ता, **मनीषी** = मननशील, **परिभूः** = चारों ओर वर्तमान, **स्वयंभूः** = अपने आप उत्पन्न, **याथातथ्यतः** = यथावत्, **अर्थान्** = पदार्थों का, **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः** = जीवरूप सनातन प्रजा को, **व्यदधात्** = धारण कराता है, बोध कराता है।

प्रश्न ८. परमेश्वर की भक्ति की आवश्यकता क्या है ? और कैसे होती है ?

उत्तर. **स्तुति, प्रार्थना, उपासना** का नाम भक्ति है। इसे महर्षि के शब्दों से ही जानें-

स्तुति- स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना।

प्रार्थना- प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना।

उपासना- उपासना से परब्रह्म का मेल और उसका साक्षात्कार होना।

सत्यार्थ० सप्त० पृ० १७०।।

उपासना के द्वारा आत्मा में सुख का प्रादुर्भाव होता है। इस

उपाय को छोड़ पापनाशन करने के लिए अन्य उपाय नहीं है। प्रार्थना से पश्चात्ताप होता है और आगे को पापवासना का बल घटता जाता है।

कृतज्ञता दिखाने वालों का मन स्वतः प्रसन्न और शान्त होता है। हमारे माता-पिता ईश्वर के बनाये हुये पदार्थ लेकर हमें पालते हैं, तो भी वे हम पर बड़ा उपकार करते हैं। इन उपकारों का स्मरण करना हमारा धर्म है, ऐसा हम स्वीकार करते हैं। फिर जब ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की तो उसके असंख्य उपकारों को हमें अवश्य स्मरण करना चाहिए। (अतः भक्ति की आवश्यकता है।)

पूना, प्रवचन-२, ईश्वर विषय

भक्ति की विधि-

जब भक्ति = उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में, वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवें।

जब (मनुष्य) इन साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ी भर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है।

सत्यार्थ० सप्त० पृ० १७५।।

आरक्षिका नारी आरक्षण की प्रार्थिनी कैसे ?

वेदों में, हिन्दी के शब्द कोषों में तथा संस्कृत के शब्द कोषों में नारी के लिये बड़े ही सुन्दर शब्द आये हैं, जो नारी के गौरव को, कीर्त्ति को बढ़ाते हैं। **महिला** शब्द को ही लें, जो **'मह पूजायाम्'** धातु से बना है जिसका अर्थ है **महनीय = पूजा के योग्य।** वह नारी पूजा के योग्य क्यों है ? क्योंकि उसकी गोद में राष्ट्र पलता है। माँ एक बच्चे को पालती है, मानो राष्ट्र पल रहा है राष्ट्र का पालन हो रहा है। नारी का पुत्रों के प्रति क्या दायित्व होता है यह यजुर्वेद में बड़े सुन्दर शब्दों में प्रतिपादित किया गया है-

सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्।
मैनां तपसा मार्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्यां शुक्रज्योतिर्विभाहि।।

यजु० १२।१५।।

अर्थात् **हे अग्ने** = विद्या को चाहने वाले अग्रणी पुरुष, **त्वम्** = तुम, **अस्याम्** = इस माता के विद्यमान होने से, **विभाहि** = प्रकाशित हो, अतः **शुक्रज्योतिः** = शुद्ध आचरणों के प्रकाश से युक्त होकर, **विद्वान्** = विद्या वाले, **अस्याः मातुः** = इस माता की, **उपस्थे** = गोद में, **सीद** = स्थित होवो। इस माता से, **विश्वानि** = सब प्रकार की, **वयुनानि** = बुद्धियों को प्राप्त करो तथा **एनाम्** = इस माता को, **अन्तः** = अन्तः करण में, **मा** = मत, **तपसा** = सन्ताप से, तथा **अर्चिषा** = तेज से, **मा** = नहीं, **अभिशोचीः** = शोकयुक्त करो, किन्तु इस माता से शिक्षा को प्राप्त करके दीप्त होओ।

इस मन्त्र का ऋषिवर दयानन्द ने जो भावार्थ लिखा है वह बड़ा ही कमाल का है, नारी की महिमा को जताने वाला है, वे लिखते हैं-

यो विदुष्या मात्रा विद्यासुशिक्षां प्रापितो मातृसेवको, जननीवत् प्रजाः पालयेत् स राज्यैश्वर्येण प्रकाशेत।

अर्थात् जो विदुषी माता के द्वारा, सुशिक्षा प्राप्त करके मातृ सेवक बनके, माता के समान जैसे-माता पुत्रों को पालती है वैसे प्रजाओं का पालन करे वह पुरुष राज्य के ऐश्वर्य से प्रकाशित होवे।

तात्पर्य हुआ माता की गोद में पला पुत्र सुशिक्षित होकर राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला, उसे समृद्ध करने वाला बनता है। माता ही उसे इस लायक

बनाती है उसका ही उत्तरदायित्व होता है।

इसी प्रकार नारी के लिये **योषा** शब्द भी प्रयुक्त होता है जो 'यु मिश्रणेअमिश्रणे च' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है जोड़ने वाली। नारी नाना प्रकार की जो विसंगतियाँ हैं उन सब में वह साम्य रखती हुई चलती है, परिवार को जोड़ती है, उसे रक्षण देती है, सन्तुष्ट रखती है, प्रसन्न रखती है, नारी में संयुक्त परिवार चलाने का गुण होता है, अतः उसे योषा कहा है।

योषा नारी के लिये वेद कहता है–

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः।

यजु० १७।९६।।

अर्थात् **स्मयमानासः** = मुस्कुराती हँसती हुई, **कल्याण्यः** = सबका कल्याण चाहने वाली, **समना इव योषाः** = समान मन वाली स्त्रियाँ जैसे, **अभिप्रवन्त** = परिवार को प्राप्त होती हैं, वैसे **समिधः** = अग्नि को प्रदीप्त करने वाली, **घृतस्य धाराः** = शुद्ध ज्ञान की वाणी तथा घी की धारायें, **अग्निम्** = अग्नि को, **नसन्त** = प्राप्त होती हैं (**नसन्त इति गतिकर्मा,** निघ० ४।१), **ताः** = उस वाणी को, अग्नि को, **जुषाणः** = सेवन करता हुआ, **जातवेदाः** = ज्ञानी पुरुष, **हर्यति** = क्रान्तिं को प्राप्त होता है (**हर्यति इति क्रान्तिकर्मा,** निघ० २।६)।

मन्त्र में उपमालङ्कार से नारी की विशेषता को बताया गया है। मुस्कुराती नारियाँ जैसे परिवार को प्राप्त होकर उसे सुखी रखती हैं वैसे वेदवाणी को प्राप्त होकर लोग शोभित होते हैं, सुखी होते हैं, क्योंकि प्रसन्नचित्त नारियाँ परिवार की मनोवेदना शोक, क्लेश, विषाद, भय, चिन्ता आदि को दूर करती हैं।

गीता में प्रसन्नता का लाभ बताया है–

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

गीता० २।६५।।

अर्थात् प्रसन्नचित्त रहने से सारे दुःख दूर रहते हैं प्रसन्नता से शीघ्र ही बुद्धि स्थिर और विमल बनती है।

मन्त्रोक्त समान मन वाली नारियाँ दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाती

हैं। पति-पत्नी के विचारों में तथा परिवार के अन्य सदस्यों में साम्मनस्य और एकरूपता होना परिवार के लिये आवश्यक है, क्योंकि सामञ्जस्य पारिवारिक कलह और चिन्ताओं को दूर करता है, मतभेद को समाप्त करता है और जीवन को कटुता से दूर रखता है एवं कल्याण का आचरण करने वाली नारी परिवार को सुखी समृद्ध बनाती है। मन्त्र में ऐसी नारी से प्रदीप्त अग्नि को उपमित किया है।

कल्याण को चाहने वाली स्त्रियाँ समाज में सम्मान की पात्र बनती हैं, क्योंकि समाज उसी व्यक्ति को आदर देता है और अभिनन्दनीय समझता है, जो दूसरों के दुःख में दुःखी होता है और दीनों का कष्ट दूर करता है। सहानुभूति एवं संवेदना वे गुण हैं, जो मनुष्य को मनुष्य से जोड़ते हैं, उनमें तादात्म्य और ऐक्य की स्थापना करते हैं। मनुष्य परोपकार का कोई भी कार्य करता है तो उसे आन्तरिक आह्लाद प्राप्त होता है, यह आन्तरिक आह्लाद उसे प्रसन्न एवं तेजस्वी बनाता है, उदार बनाता है। योषा नारी में वेद प्रतिपादित गुण स्वतः ही होते हैं। इन गुणों से विभूषित नारी को वेद कहता है-

वि या जानाति जसुरिं वि तृष्यन्तं वि कामिनम्।
देवत्रा कृणुते मनः॥

ऋ० ५।६१।७॥

अर्थात् **या** = जो स्त्री, **ज़सुरिम्** = हिंसित, पीड़ित, **तृष्यन्तम्** = प्यासे को, **वि वि जानाति** = विशेष करके जानती है तथा, **कामिनम्** = कामातुर पुरुष को, **वि जानाति** = विशेष करके जानती है, वह, **देवत्रा** = देवों में, विद्वानों में, दिव्यगुणों में अपना, **मनः** = मन, **कृणुते** = करती है।

इस मन्त्र का भावार्थ ऋषि के शब्दों में देखें-

जो स्त्री पुरुषार्थी, धार्मिक, लोभी, कामातुर पति को जानकर दोषों के निवारण और गुणों के ग्रहण करने के लिये प्रेरणा करती है वही पति आदि की कल्याण करने वाली होती है।

तात्पर्य हुआ कल्याण चाहने वाली नारी सबके आन्तरिक या बाह्य दोषों को दूर करके उन्हें आनन्दित रखती है क्योंकि नारी ही मर्यादाओं का पालन करती है और मर्यादाओं की रक्षा चरित्र से होती है। जब नारी को पुरुष के चरित्र पर विश्वास होता है तो वह कितनी सुखी होती है बता पाना कठिन है।

ऋग्वेद में बताया गया है कि कैसी स्त्री परिवार में आदर के योग्य होती है-

उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी
अदेवत्रादराधसः॥

ऋ० ५।६१।६॥

हे पुरुष ! जो **स्त्री** = स्त्री, **अदेवत्रात्** = अविद्वानों से, **अराधसः** = कार्य सिद्धि न करने वाले, दान न देने वाले से दूर होती है, वह, **पुंसः** = पुरुष को, **वस्यसी** = बसाने वाली, **उत** = और, **शशीयसी** = दुःख को दूर करने वाली, **भवति** = होती है, वही, **त्वा** = उस पुरुष को सुखी रखती है।

अर्थात् वही स्त्री पति के आदर करने योग्य होती है जो अन्याय के आचरण, अदानी के साहचर्य तथा अदेवत्व के दुर्गुण से दूर होती है।

पर नारी आज अपने गौरव को, दायित्व को, अपनी कीर्ति को भूल चुकी है। उसके भीतर एक ऐसी भावना काम कर रही है कि हम सबसे पीछे हैं, हमें दबाया जा रहा है, हमें आरक्षण चाहिये। नारी आरक्षण को लेकर सरकारें भी महिलाओं के लिये तरा दे रही हैं, पर हम आरक्षण शब्द का अर्थ क्या है यह नहीं जानते ?

आङ् पूर्वक 'रक्ष पालने' से निष्पन्न आरक्षण का अर्थ है पालन। जो नारी सबका पालन करने वाली है उसके लिये आरक्षण की गुहार यानी पालन की गुहार ? यह कैसी विडम्बना है ? नारी का आरक्षण घर में चाहिये, परिवार में चाहिये। घर एक राष्ट्र है उसमें अनेक सदस्य हैं, भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं, अपने-अपने मन्तव्य हैं। पति की अलग सोच है, पुत्र की अपनी अलग खिचड़ी पकती है, पुत्री का अलग ही मूड है, बहू रानी दूसरे ही गुमान में है, देवर-देवरानी का अलग ही राग है, सास-ससुर के दकियानूसी विचार हैं। बहिनें किञ्चित् विचार करें ? सब तूफानों को बिना शान्त किये, उनसे बिना निपटे, बाहिर दफ्तरों में जाना चाहती हैं, आफिसों में चैन की श्वास लेना चाहती हैं। संयोग से किसी को चैन मिल भी सकता है पर सबको मिल सके यह बड़ा कठिन है, आखिर लौटना तो उसी चक-चक, झक-झक के ठिकाने में होगा। तो क्यों हम ऐसी चैन की बंशी की लालसा रखते हैं।

अरे ! हमें आरक्षण नहीं चाहिये, हमें अन्यों को आरक्षण देना है, हम आरक्षिका हैं, पालयित्री हैं, निर्मात्री हैं, वेद ने हमें ब्रह्मा की उपाधि दी है हम ब्रह्मा हैं - **स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ** । ऋ० ८।३३।१९।।

ब्रह्मा कौन हो सकता है जरा सोचें, मस्तिष्क पर वजन डालें, जो सर्ववेत्ता हो वह ब्रह्मा होता है। ईश्वर भी ब्रह्मा है क्योंकि पूर्ण ज्ञाता है, सर्वज्ञ है, सृष्टि के समस्त प्राणियों की भली-भाँति सुरक्षा करता है, पालता है, पोषण देता है, सुखी रखता है, दुःखों से बचाता है सबको वेद ज्ञान देता है आदि-आदि जीवों के उपकार का कार्य करता है। नारी को भी ईश्वर की भाँति परिवार के सभी सदस्यों की इच्छाओं के अनुसार सुखी रखना, उन्हें दुःख से बचाना, प्रसन्न रखना, सन्तानों को ज्ञानवान् बनाना आदि कार्य करके अपने ब्रह्मा पद का गौरव बढ़ाना चाहिये।

इस प्रकार जो सब कुछ करने वाली नारी है, उसे आरक्षण की आवश्यकता नहीं। बहिनें सर्विस अत एव करना चाहती हैं कि पति देव को पैसे कम मिलते हैं, या उनसे पैसे मांगने में हीनता प्रतीत होती है। थोड़ा विचार करें ? वह बढ़ा हुआ पैसा जा कहाँ रहा है ? डॉक्टर के पास, ट्यूशन में, नौकरों में। यदि बहिनें चिकित्सा का ज्ञान रखेंगी तो वह इलाज़ का पैसा बचेगा, बच्चों को शिक्षा देने में समर्थ होंगी तो ट्यूशन का पैसा बचेगा, वस्त्रों का सिलना घर में करेंगी, तो दर्जी का पैसा बचेगा। कहने का तात्पर्य हुआ यदि घर के कार्य नारियाँ उत्तरदायित्व पूर्वक करें तो नाना प्रकार की व्याधियों से बचेंगी, स्वयं प्रसन्न रहेंगी, दूसरों को प्रसन्न करेंगी।

इस प्रकार नारियों को अपने गौरव को याद रखते हुए मान, मर्यादा का सम्मान करते हुये वेदोक्त परिवार का निर्माण करना चाहिये, अपने दायित्वों को समझना चाहिये, और सबको अपने कार्यों से, विचारों से, पालन, संरक्षण देकर परिवार को, समाज को सुखी, समृद्ध बनाना चाहिये क्योंकि वह नारी आरक्षिका है सबकी पालयित्री है।

सन्तानों की शिक्षा की आधारशिला

सत्यार्थप्रकाश ऋषिवर की साधना का एक निचोड़ है। इसकी प्रत्येक पंक्तियाँ, एक-एक वाक्य सूत्र रूप में हैं, जिसे हमें समझना होगा। स्वामी दयानन्द ने जब सत्यार्थप्रकाश लिखा, उस समय चारों ओर अविद्यान्धकार तथा अन्धपरम्पराओं एवं रूढ़िवादों के काले बादल आर्यावर्त्त पर मंडरा रहे थे। लार्ड मैकाले की चलाई शिक्षा पद्धति अपने जोर पर थी, ऐसी विकराल स्थिति में ऋषि ने क्रान्ति का शंख फूंका; सुधारवाद ने जोर पकड़ा और शिक्षा जगत् में हलचल मच गई।

महर्षि ने अपने उत्पीड़न तथा कराह को मूर्त्तरूप प्रदान करने के लिए सर्वस्व अर्पण कर दिया। वे भली भाँति जानते थे कि हमारी वर्तमान सन्तति ही आगामी समाज को बनाने वाली होगी, जब तक इन भावी राष्ट्रनायकों को उत्तम शिक्षा उपलब्ध नहीं होगी तब तक यह संसार अविद्यान्धकार के सरोवर में गोते लगाता रहेगा, अतः उस अबोध बालक को जो अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से परिवेष्टित मांसपिण्ड का लोंदा, कच्ची मिट्टी के घड़े के समान है उसे ही सुसंस्कृत करना चाहिए। इस कार्य को सुव्यवस्थित एवं सुघड़ता से माता ही कर सकती है **इसलिए उन्होंने माता द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के लिए प्रत्येक जगह चाहे वेद-भाष्य हो, उपदेश-मञ्जरी हो, सत्यार्थप्रकाश हो** सर्वत्र अपने दीर्घकाय, लघुकाय ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख किया।

सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में इन्हीं विचारों को स्वामी जी ने ग्रथित किया है। इस समुल्लास का मुख्य प्रतिपाद्य विषय शिक्षा का प्रयोजन एवं कुशिक्षा का निवारण है। महर्षि दयानन्द सत्य, सुशीलता, संयम, उत्साह आदि गुणों को धारण और अज्ञान का अपसारण शिक्षा का आवश्यक अङ्ग मानते थे। इन गुणों का आधान माता द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि बालक माँ के अधिक निकट होता है, माता ही मार्ग दर्शन करती है, अतएव उन्होंने द्वितीय समुल्लास में स्पष्ट लिखा है कि मातायें प्रारम्भ से ही बालकों के मन मस्तिष्क में ऐसी शिक्षाएँ कूट-कूटकर भर दें जिससे वे अन्धविश्वासी बनाने वाले भूत-प्रेत, शाकिनी, डाकिनी इत्यादि जो भ्रमजाल हैं उनमें न फँस सकें।

उन्हें इसका भी पूरा ज्ञान करा दें कि तन्त्र-मन्त्र और जादू-टोना करने वाले दुष्ट होते हैं एवं उनके कार्य धूर्त्ततापूर्ण हैं।

महर्षि ने ऐसे पाखण्डियों से लोगों को सावधान करते हुए कहा है कि ये दुष्ट जब स्वाङ्ग करते हुए नाच कूद कर कहें कि-

"मैं हनुमान् हूँ लाओ पक्की मिठाई तेल, सिन्दूर सवा मन का रोट और लाल लंगोट"।

"मैं देवी का भैरव हूँ लाओ पाँच बोतल मद्य बीस मुर्गी ५ बकरे"।

"परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट ५ जूता, दण्डा वा चपेटा, लातें मारें, तो उसके हनुमान् देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं"।

सत्यार्थ० द्वि० पृ० ३१।।

इसी प्रकार माता-पिता ज्योतिषियों को हस्त आदि न दिखलाने की शिक्षा अपने पुत्रों को दें एवं भूत प्रेतादि के सम्बन्ध में बता दें कि ये सब कुछ भी नहीं हैं व्यर्थ के भ्रम मात्र हैं **"प्रेत तो मृत प्राणी का नाम है क्योंकि उसकी गमन क्रिया विशिष्ट रूप से हुई है साधारण जो गमनागमन है तत्सदृश उसका गमन नहीं हैं** "वह अपने सभी संसाधनों को, सभी सम्बन्धियों को छोड़कर गया है" साथ कुछ नहीं ले गया, यही उसका प्रेतपना है और भूत **नाम भी उसका है जो बीत चुका हो सम्प्रति न हों।** इसी प्रकार फलित ज्योतिष भी लोगों को गर्त्त में गिराने के लिए है, अतः सबको अंकगणित वाले ज्योतिष-शास्त्र को ही मानना चाहिए। यह बात माताएँ बालकों को प्रारम्भ में ही भली प्रकार विदित करा दें।

माँ के आहार-विहार का प्रभाव कोमल शिशु पर गहरा तथा अमिट पड़ता है, क्योंकि उसकी शिक्षा का प्रारम्भ तो उसके जन्म से भी पहले माता के उदर से ही हो जाता है इस बात का अनुमान **सुभद्रा के वीर पुत्र अभिमन्यु की कथा एवं जीजाबाई के पुत्र छत्रपति शिवाजी के वीरत्व को देखकर** लगाया जा सकता है। शिवाजी को धर्मोद्धार की प्रेरणा अपनी माता जीजाबाई से ही प्राप्त हुई थी। **इसी प्रकार ऋतुध्वज की रानी मदालसा** ने अपने चार पुत्रों को स्वयं शिक्षा दी जिससे वे अध्यात्म मार्ग में प्रवृत्त हुए। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जिनकी माताएँ जीवन मार्ग का पथ प्रदर्शन करती रही हैं। शतपथ ब्राह्मण में कहा है-

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।।

शत० ब्रा० १४।६।१०।२।।
छान्दो० ६।१४।२।।
बृहदा० ४।१।२।।
सत्यार्थ० द्वि० पृ० २८।।

इस वचन का तात्पर्यार्थ बताते हुए स्वामी जी लिखते हैं-

"वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य ! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् ! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर प्रेम, उनका हित करना चाहती है उतना अन्य कोई नहीं करता, इसीलिए **"मातृमान् अर्थात् प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्"** धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो तब तक सुशीलता का उपदेश करे"।

इस प्रकार ५ वर्ष तक माता ८ वर्ष तक पिता, तदुपरान्त आचार्य बालक के शिक्षक होते हैं। ऋषि दयानन्द ने हमें बताया कि सभी माता पिताओं का कर्त्तव्य है कि अपने ५ या ८ वर्ष के पुत्र-पुत्रियों को शिक्षा हेतु विद्यालय में अवश्य भेज देवें। जो इस अवस्था के बालक-बालिकाओं को घर पर रखें, वे दण्डनीय हों ऐसा राजकीय नियम होना चाहिये।

राष्ट्र प्रहरी महर्षि दयानन्द के इन वचनों से ज्ञात होता है कि सभी वर्णों के बालक-बालिकाओं के लिए शिक्षा आवश्यक हुई और **शिक्षा के आधार पर ही उनके गुण, कर्म, स्वभावानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र विभाजन होने चाहिये। इस वर्ण विभाजन का अधिकार आचार्य को ही होता है, जन्मना शूद्रादि कोई नहीं होता।** महर्षि दयानन्द ने ऐसी शिक्षा के लिए पाठशालाओं की स्थापना का बहुधा निर्देश दिया है। ऐसी पाठशालाओं में शिक्षा होने पर समाज में न तो जातिवाद पनपेगा, न कुविचार अतः एतादृश शिक्षा के लिए **माता-पिता और आचार्य का सुशिक्षित होना अनिवार्य है, क्योंकि वे बालक के जीवन की आधारशिला हैं।** माता-पिता

एवं आचार्य जो शिक्षा देते हैं उसके आधार पर ही बालक अपने आचार-विचार को बनाता है एवं सभ्य सुशिक्षित नागरिक बनता है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार वर्णों के उच्चारण की शिक्षा भी माता द्वारा ही होनी चाहिए, जिससे वे शुद्ध एवं स्पष्ट वर्णों का उच्चारण कर सकें। जो माता पिता इस प्रकार सन्तान को शिक्षित नहीं करते, उनके लिए महर्षि दयानन्द ने चाणक्य नीति का उदाहरण देते हुये कहा है-

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभा मध्ये हंस-मध्ये बको यथा।।

चाणक्य नीति २।११।।

अर्थात् वे माता पिता शत्रु के समान हैं जो बच्चों को उत्तम शिक्षा नहीं देते। जिस प्रकार हंसों की सभा के बीच बगुला शोभित नहीं होता, उसी प्रकार अशिक्षित बालक विद्वानों की सभा में आदृत नहीं होता। अंतः माता-पिता का महान् कर्त्तव्य है कि शिक्षा जैसे मानव जीवन के महत्वपूर्ण अङ्ग पर पर्याप्त ध्यान देकर अपने नन्हें-मुन्नों को जो राष्ट्र की सम्पत्ति हैं, उन्हें पोप लीलाओं से, कुचेष्टाओं से बचाकर सुयोग्य बनाना चाहिए, जिससे राष्ट्र का समुन्नयन हो सके।

❖❖❖

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः।।

सत्यार्थ० तृ० पृ० ३६।।

अर्थात् जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शील- स्वभावयुक्त, सत्यभाषणादि नियमपालनयुक्त, अभिमान से रहित, मलिनता के नाशक, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों को दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से परोपकार में लगे रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं।।

राष्ट्र निर्माण में युवतियों की भूमिका

राष्ट्र हमारे परिवार या समाज का ही बृहद् रूप है अतः परिवार एवं समाज पर ही राष्ट्र निर्माण की नींव टिकी हुई है। तो इस प्रकार सर्वव्यापी निर्माण से पूर्व मूल अर्थात् परिवार का निर्माण ही अत्यावश्यक है। वह पारिवारिक निर्माण या उन्नति आज की युवती, कल की माता पर ही निर्भर है।

आज सोचना यह है कि वह कौन सी वस्तु है जो अपने प्रिय देश से छिन चुकी है जिसकी प्राप्ति के लिये राष्ट्र निर्माण की गुहार लगायी जा रही है। तो निःसन्देह कहना होगा कि आज इस स्वतन्त्र देश से अपने नाम व भाषा, अपने वेश, अपनी संस्कृति, एवं अपने देश का स्वाभिमान तिरोहित हो चुका है। चाहे अपने नाम के आगे खाँ लगा लिया, चाहे मुहम्मद, कोई फर्क नहीं है। चाहे हिन्दी बोल ली, चाहे अंग्रेजी या उर्दू कोई संकोच नहीं है। पैन्ट, स्कीवी, जीन्स ड्रेस पहन ली कोई लिहाज़ नहीं है, कभी घंटी बजा ली, कभी नमाज पढ़ ली कोई समर्पण नहीं है। किसी भी देश में रह लिये, हमें देश से कोई प्यार नहीं है, और कहाँ तो भारत भू पर निवास के लिये देवता भी तरसते हैं, यथा-

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।

विष्णु पु० २।३।२४।।

पर यह स्वाभिमान देश का बड़े से बड़ा नेता, राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री या कोई सुचिन्तक नहीं भर सकता। इस स्वाभिमान को माता ही अपने लाल के अन्तस्तल में लोरियों के माध्यम से भर सकती है। इतिहास साक्षी है इस बात का कि माताओं ने अपनी गोद में ही अपने सपूतों को इस प्रकार की शिक्षा दी जो राष्ट्र के सिर-मौर बन सके। इस प्रसंग में वीर शिवाजी, महाराणा प्रताप आदि वीरों के नाम गिनाये जा सकते हैं। वेद में भी कहा है-

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकरिन्द्रं माता वीर्येणा न्यृष्टम्।।

ऋ० ४।१८।५।।

अर्थात् मन्यमाना = मान की जाती हुई, माता = माता, गुहा = बुद्धि में, वीर्येण = वीरता के भावों से, इन्द्रम् = ऐश्वर्यशाली सन्तान को, नि ऋष्टम् = प्राप्त करने योग्य, अकः = बनाती है। कैसे बनाती है ? अवद्यम् इव = अनिन्दनीय के समान।

तात्पर्य हुआ-माता सन्तान की बुद्धि में पराक्रम के भाव भरती है तथा दुष्टाचरणों से उन्हें दूर रखती है। माता के द्वारा सन्तान का ऐसा निर्माण होने पर ही वह लोक में प्रतिष्ठित होता है, उसकी कोई निनन्दा नहीं करता।

महाभारत में भी कहा है- **'नास्ति मातृसमो गुरुः'** शान्ति० ३४२।१८।।

अर्थात् माता ही सबसे बड़ी गुरु है। माता अपने उन लाडले पुत्र पुत्रियों को अपने निश्छल प्यार में अपने देश, धर्म, संस्कृति इत्यादि की जो घुट्टी पिला देती है जिसे पीकर बालक परिवार का अलंकार बनता है, वही आगे चलकर समाज का श्रृंगार बनता है, और वह ही राष्ट्र का अच्छा नागरिक और कर्णधार कहाता है एवं अपनी प्रतिभा से राष्ट्र को समुन्नत करता है।

लेकिन खेद है आज बहिनें अपने दायित्व को, अपनी शक्ति को भूल चुकी हैं, अपने सम्मान को खो चुकी हैं, वे आज स्वयं क्षणिक सुख एवं स्नेह को पाने के लिये दर-दर की ठोकरें खा रही हैं। अपनी भाषा, वेष, संस्कृति, धर्म को अपनाने में हीनता अनुभव करती हैं। पाश्चात्य भाषा, वेशभूषा अपनाने में सुसभ्य इन्टेलिजेन्ट समझती हैं। तो कैसे सम्भव है कि वे अपने सपूतों को वात्सल्य भरा प्यार देकर राष्ट्र को अच्छा कर्णधार दे सकेंगी ? तथा राष्ट्र सांस्कृतिक, चारित्रिक, धार्मिक उन्नति करता हुआ एक सूत्र में बंध सकेगा ? राष्ट्र की एकता, अखण्डता, नैतिकता बनाये रखना देश में रहने वाले सभी का कार्य है। राष्ट्र निर्माण का दायित्व किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं है यदि ऐसा होता तो आज उन व्यक्ति विशेषों के रहते देश क्यों तोड़-फोड़ की ज्वाला में सुलग रहा है ?

तो इसलिये आज प्रत्येक युवती का कर्तव्य है, वह ऐसी सन्तति बनाये जो राष्ट्र नाविक हो सके। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक माता अपनी पुत्री को जो आज युवती है कल की माता बनेगी, उसे धार्मिक एवं सुसंस्कृत बनाये, उस के अन्दर अपनी भाषा, वेश-भूषा, देश के प्रति स्वाभिमान जगाये। जो दूसरों के हाथों की कठ-पुतली न बने, अपने परिवार को संगठित स्वस्थ बना सके। अपनी भावी सन्तान में स्वदेशाभिमान भर सके, कर्तव्य और चेतना को पिरो सके। तभी वास्तविक राष्ट्र निर्माण हो सकता है।

❖❖❖

श्रद्धया सत्यमाप्यते-

श्रद्धामूर्ति श्रद्धानन्द

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी को आज कौन नहीं जानता ? उनके कार्य और व्यक्तित्व से पूरा विश्व परिचित है। परमेश्वर का निर्भ्रान्त ज्ञान कराने वाले **जगद्गुरु महर्षि दयानन्द** की दिव्य आकृति से, उनकी वक्तृता से अपनी आत्मा को धोने, पखारने वालों, निष्कलङ्क बनाने वालों में **श्री स्वामी श्रद्धानन्द महाराज** का अपना एक स्थान है।

स्वामी श्रद्धानन्द निर्भीकता और संघर्ष की प्रतिमूर्ति थे। उनका जीवन निर्भीकता की गाथाओं, संघर्ष की महिमाओं से भरा पड़ा है। स्वामी श्रद्धानन्द को ईश्वर भक्ति, निर्भीकता और स्पष्टवादिता कुलपरम्परा से विरासत में प्राप्त थी। पूजा पाठ करना अपने माता-पिता से हँसते-खेलते सीख लिया। आस्तिकता इतनी बढ़ी कि प्रतिदिन भगवान् का दर्शन करना, मन्दिर में जाना अनिवार्य कृत्य समझते थे, पर यह आस्तिकता अधिक न चली, आस्तिकता नास्तिकता में बदलने लगी, हुआ यह कि काशी में रहते हुये वे प्रतिदिन विश्वनाथ का दर्शन करने जाया करते थे। एक दिन कारणवश मन्दिर पहुँचने में कुछ विलम्ब हुआ, फिर भी मन्दिर जा पहुँचे, पर पहरेदारों ने उन्हें द्वार पर ही यह कहकर रोक दिया **'अभी रीवाँ राज्य की महारानी भगवान् के दर्शन कर रहीं हैं, तुम अन्दर नहीं जा सकते।"** मुंशीराम के मन में अन्तर्वेदना हुई कि जो सबका नाथ है उसके दरबार में भी भेदभाव ? बस उनके मन से मूर्तिपूजा के प्रति श्रद्धा उठ गई।

पुनः मुंशीराम के मन ने ईसाइयत की ओर बढ़ना चाहा, पर ईसाइयत का अनुराग भी पादरी और ननों के घृणित कृत्यों को देख रफू चक्कर हो गया। पण्डों द्वारा नारियों के शील हरण के बीभत्स दृश्यों ने भी उनके प्रति घृणा के बीज बो दिये। बस यहीं से मुंशीराम का मानसिक संघर्ष का प्रथम सूत्रपात हो गया। किसी भी प्रकार के धर्म पर श्रद्धा न रही, नास्तिकता ने जड़ें जमा लीं। धर्म के ठेकेदारों की बिना सिर पैर की छुआ-छूत की दीवारों ने, ईश्वरभक्त बनने वालों की मांसाहार की अलबेली मस्तियों ने उन्हें भीतर ही भीतर इतना बींध दिया कि सबके प्रति घृणा ने पैर पसार दिये।

उनके पिता कोतवाल थे। सब तरह का ऐशो आराम प्राप्त था, पैसा था, नौकर-चाकर थे, भरा-पूरा परिवार था, किसी चीज की कमी न थी। इस आराम तलबी के चलते मुंशीराम के जीवन को अनेक प्रकार की नैतिक बुराइयों ने आ घेरा। खाली मन शैतान का घर।

१४ श्रावण संवत् १९३६ को नैष्ठिक ब्रह्मचारी वेदोद्धारक आर्य संस्कृति सभ्यता के उन्नायक, तल-स्पर्शी, शास्त्र मर्मज्ञ, अप्रतिहत तर्कशक्ति सम्पन्न महर्षि दयानन्द का बरेली में आगमन हुआ। महर्षि के प्रवचन स्थल की शान्ति व्यवस्था में नियुक्त मुंशीराम के पिता लाला नानकचन्द जी कोतवाल को अपने पुत्र को आस्तिक बनाने का अच्छा अवसर मिला, यद्यपि मुंशीराम को धार्मिक स्थलों के अत्याचार, दुराचार, भेदभाव की भावनाओं ने मर्माहत कर दिया था, पुनरपि पिता के बारम्बार आग्रह पर महर्षि दयानन्द के व्याख्यान सुनने वे पहुँचे। वहाँ महर्षि के 'ओ३म्' पर हुये व्याख्यान ने उनके हृदय में जो कुल परम्परा से प्राप्त धार्मिक मुहाना था, उस मुहाने को स्वच्छ, निर्मल कर वेदोक्त धार्मिक स्रोतरूप में बहा दिया। महर्षि के व्यक्तित्व ने ईश्वर तथा वेद को समझने के लिये उनके जीवन में नया मोड़ प्रदान कर दिया।

मुंशीराम महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों से इतने दृढ़ हो गये कि अवैदिक सिद्धान्तों को किसी भी कीमत पर मानने को तैयार न हुये, चाहे वह पिता की ही बात क्यों न हो। पिता के बार-बार कहने पर भी ज्येष्ठ मास की निर्जला एकादशी के संकल्प को पढ़ने के लिये उद्यत नहीं हुये। बड़ी निर्भीकता के साथ बोले "पिताजी संकल्प आपका है, धन भी आपका है, आप चाहे जिसे यह दान दे दें, मैं क्या करुँगा।" यहाँ से प्रारम्भ हुई, मुंशीराम जी की निर्भीकता की प्रथम कहानी। मुंशीराम के इस निर्भीक कथन ने पिता को पीड़ित तो किया, पर उनकी इस निर्भीकता ने पिता को भी अपने रंग में रंग लिया और उन्होंने पञ्चमहायज्ञविधि, सत्यार्थप्रकाश पढ़ा। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उस निराकार परमेश्वर की महर्षि द्वारा संगृहीत सन्ध्या के मन्त्रों द्वारा उपासना करने में कृत संकल्प हो गये।

मुंशीराम के विचारों ने पलटा खाया, मांस, मदिरा, जुआ आदि छोड़ दिये। उनके इस जीवन के उत्थान में उनकी धर्मपत्नी शिवदेवी ने भी पूर्ण

सहयोग किया। अपने गहने तक उतार कर सौंप दिये। मुंशीराम भारतीय नारी जाति के इस धैर्य, औदार्य और महिमा के प्रति सर्वदा श्रद्धान्वित रहे।

मुंशीराम पं. लेखराम एवं पं. गुरुदत्त के साहचर्य से पूर्ण आर्य बन गये। उन्होंने स्त्री शिक्षा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, शिक्षा पद्धति में ब्रह्मचर्य का अभाव, विकृत पूजापाठ, छुआ-छूत, परतन्त्रता आदि हटाने के लिये घनघोर संघर्ष किया। **'सत्धर्मप्रचारक'** तथा **'श्रद्धा'** पत्रिका प्रकाशित कर अपने मन्तव्यों को जनता तक पहुँचाया एवं कांग्रेस के अधिवेशनों में सक्रिय भाग लेकर उनका मार्गदर्शन किया। मुंशीराम को इस सामाजिक संघर्ष ने महात्मा मुंशीराम बना दिया। वे सामाजिक कार्यों के साथ-साथ वकालत आदि की परीक्षा भी देते रहे परन्तु उत्तीर्णता के लिये रिश्वत से समझौता नहीं किया। अपनी बेटी वेदकुमारी के मुँह से-

एक बार ईसा—ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल।
ईसा मेरा राम रमैया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।।

इन शब्दों को सुनकर ईसाइयत की इस घुट्टी से देश को बचाने के लिये जालन्धर आर्यसमाज के **कर्मठ सेनानी लाला देवराज जी से मिलकर** जालन्धर में एक **कन्या पाठशाला स्थापित की।** जब इस कन्या महाविद्यालय में वैदिक शिक्षा पद्धति न होकर, अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का बोल-बाला देखा, तो बाद में **कन्या गुरुकुल देहरादून की स्थापना की।**

इसी प्रकार डी.ए.वी. कालेज में आर्ष पाठविधि न होने से एवं संस्कृत की प्रधानता न होने से **गुरुकुल कांगड़ी की हरिद्वार में स्थापना की। जिसके वे प्रथम आचार्य बने।** गुरुकुल की स्थापना में कालेज पार्टी, मांस पार्टी का जमकर विरोध होने पर भी अपने उद्देश्य से तनिक न डिगे। गुरुकुल में वेदादि शास्त्रों के साथ-साथ कृषि, भौतिकी, रसायन, इतिहास, विज्ञान आदि विषयों को समुचित स्थान दिया। स्वामी श्रद्धानन्द का शिक्षा विषयक यह संघर्ष विदेशी हुकूमत के लिये एक चुनौती बना और उनके तन-मन-धन के सर्वस्व त्याग से सिञ्चित गुरुकुल देशवासियों के लिये सशक्त प्रहरी बना।

स्वामी जी शिक्षा के कार्यों के साथ-साथ सामाजिक कार्यों में भी सक्रियता से जुड़े हुये थे। गुरुवर्य स्वामी दयानन्द ने जिस दलितोद्धार कार्य

की प्रस्तावना की थी, श्रद्धानन्द ने उसे क्रियान्वित किया। हिन्दू-मुसलमानों को अपनी अद्‌भुत विवेक क्षमता से संगठित किया तथा गोरी सेना को अपनी छाती खोलकर 'मारो मेरी छाती में गोली' ऐसा सिंहनाद करते हुये 'रौलट्‌ ऐक्ट' को अस्वीकार कर अदम्य साहस का कीर्तिमान स्थापित किया। जामा मस्जि़द के मिम्बर से-

'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।'
अथ ते सुम्नमीमहे।।

सामo ११७०।।

इस मन्त्र के द्वारा अपना भाषण प्रारम्भ करने का प्रथम अवसर और "ओ३म्‌ शान्तिः शान्तिः शान्तिः" के साथ समाप्त करने का अन्तिम अवसर भी स्वामी श्रद्धानन्द ने ही प्राप्त किया। उनका यह कार्य लोक संग्राहक शक्ति, स्वदेश भक्ति, जन शक्ति को द्योतित करने वाला था।

स्वामी श्रद्धानन्द देश की स्वतन्त्रता के लिये भली भाँति समझते थे कि जब तक हिन्दू-मुस्लिम एक नहीं होंगे, जाति बन्धन की जंजीरें नहीं टूटेंगी, शिक्षणालय अपने नहीं होंगे, तब तक स्वतन्त्रता मिलनी कठिन है। इसके लिये उन्होंने युद्ध स्तर पर शुद्धि का अभियान चलाया, जाति बन्धन तोड़कर अपनी सन्तानों के विवाह किये, एवं गुरुकुलों की स्थापना की।

स्वामी श्रद्धानन्द के साहस निर्भीकता एवं संघर्ष की कहानी बड़ी लम्बी है, जिसे थोड़े से शब्दों में बाँधना बड़ा दुष्कर है। बचपन में कुण्डली के अनुसार माता-पिता ने मुंशीराम का नाम 'बृहस्पति' रखा था जो व्यवहार में प्रसिद्ध तो न हुआ, परन्तु उन्होंने अपने इस नाम की गुणवत्ता और सार्थकता को अपने जीवन का पर्यायवाची बना दिया। सचमुच उनका बहुआयामी कार्य 'बृहस्पति' सदृश ही था।

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने जीवन को बदलकर महात्मा की उपाधि प्राप्त की, गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना कर आचार्य पद का गौरव प्राप्त किया, मानव मात्र को एकता के सूत्र में बाँधने का अद्वितीय कार्य किया, अंग्रेज सरकार के पिट्‌ठू न होकर अपितु देश से उसे खदेड़कर ब्रह्मचर्य तेज का उदाहरण प्रस्तुत किया। अपने जीवन की ऊँची-नीची, गिरी-पड़ी बातों को

'कल्याण मार्ग का पथिक' पुस्तक के माध्यम से लिखकर अपनी सत्यनिष्ठा, सत्यप्रियता, सत्यंमयता कां अद्‌भुत परिचय दिया। समाज से अस्पृश्यता निवारण के सूत्रधार बनें और अन्त में समाज में ही समा गये। उनका प्रत्येक कार्य परार्थ था। असामञ्जस्य की परिस्थिति आने पर गुरुकुलैषणा का परित्याग भी सहर्ष अङ्गीकार कर लिया। ऐसे व्यक्तित्व का जीवन दो वाक्यों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि –

"स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल के लिये जिये और समाज के लिये मरे।"

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।

यजु० १९।३०।।

इस मन्त्र की व्याख्या स्वामी श्रद्धानंन्द ने अपने जीवन द्वारा प्रस्तुत की।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस मन्त्र का अर्थ करते हुये लिखा है- 'जो मनुष्य सत्यव्रत को आचरण में लाता है, वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार को प्राप्त होता है। जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब वह सब ओर् से सत्कृत होता है **(सा अस्य दक्षिणा भवति)** वह उसकी दक्षिणा होती है। उस दक्षिणा = सत्कार को मनुष्य शुभ गुणों से ही प्राप्त करता है **(शुभ–गुणाचरणेनैवाप्नोति)**। वह दक्षिणा जब ब्रह्मचर्यादि सत्य व्रतों से भरपूर होती है उससे अपना तथा दूसरों का सत्कार होता है। उसके आचरण में श्रद्धा होती है अर्थात् दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है क्योंकि सत्याचरण ही सत्कार कराने वाला है। जैसे–जैसे उत्तरोत्तर सत्य के आचरण में श्रद्धा बढ़ती जाती है वैसे–वैसे श्रद्धा के द्वारा मनुष्य परमेश्वर, मोक्ष, धर्मादि कार्यों को प्राप्त कर लेता है अतः सत्य की प्राप्ति के लिये सर्वदा श्रद्धा और उत्साह आदि को बढ़ाना चाहिये.

मन्त्र के आदेशानुसार श्रद्धानन्द ने अपने विकृत जीवन को तिलाञ्जलि देकर श्रद्धा, सत्यता स्वीकार कर दीक्षा = प्रतिष्ठा प्राप्त की। उस प्रतिष्ठा के द्वारा स्वयं सत्कृत हुये और समूचे राष्ट्र को सत्कार दिलाया। लोगों की

श्रद्धा प्राप्त की, बदले में श्रद्धा दी और सत्य स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर श्रद्धानन्द नाम से अपने को विभूषित कियां।

१२ अप्रैल सन् १६१७ में संन्यास ग्रहण के शुभावसर पर अपनी श्रद्धा तथा श्रद्धानन्द नाम रखने की चर्चा करते हुये उन्होंने कहा-

"जब से होश सँभाला है तब से मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया की सञ्चालिका श्रद्धा ही रही है। गुरु (महर्षि दयानन्द) महाराज ने श्रद्धा का ही मन्त्र दिया था, मेरे लिये वही तारणा मन्त्र बन गया। मैं हूँ, मेरे साथ मेरी श्रद्धा है, फिर संसार की आलोचनाओं की मुझे चिन्ता नहीं है"।

श्रद्धा से प्रेरित होकर ही आज तक के इस जीवन को मैंने पूरा किया है। श्रद्धा मेरे जीवन की आराध्य देवी है। अब भी श्रद्धा से प्रेरित होकर ही मैं संन्यास आश्रम में प्रवेश कर रहा हूँ, इसलिये इस यज्ञ कुण्ड की अग्नि को साक्षी कर मैं अपना नाम 'श्रद्धानन्द' रखता हूँ जिससे अगला जीवन भी श्रद्धामय बनाने में सफल हो सकूँ।'

सचमुच स्वामी श्रद्धानन्द ने श्रद्धानन्द नाम को श्रद्धा द्वारा ही सफलीभूत किया। जैसे खान से निकला सुवर्ण मिट्टी से लिसा, पुता होता है पुनः निखर कर हिरण्य अर्थात् हृदय रमणीय (**हृदयरमणं भवतीति वा,** निरु० २।३।१०) बन जाता है वैसे ही श्रद्धानन्द भी निखरकर जनहृदय (जनहित) रमणीय बन गये।

ऐसे महापुरुष का बलिदान दिवस धर्म के ठेकेदारों को, राजनीति के पहरेदारों को, हिन्दू संगठन के दावेदारों को, पतित जीवन वालों को, नारी जाति को, गुरुकुल के ब्रह्मचारियों एवं आचार्यों को प्रतिवर्ष चेतना, स्वाहुति, जागृति, क्रान्ति, आत्म निरीक्षण, कर्त्तव्य निष्ठा, देश भक्ति आदि के लिये प्रेरित करता है। हम उस महापुरुष के निर्भीक मानवीय तेज को अपने में भरने का प्रयत्न करेंगे, तभी उस श्रद्धानन्द के प्रति हमारी श्रद्धा समझी जायेगी।

❖❖❖

साहित्य की विभिन्न विधाओं में उल्लिखित महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज की प्रगतिशील विचारधारा

राष्ट्रीय आर्य लेखक सम्मेलन[1] की गोष्ठियों के विभिन्न विषय निर्धारित किये हैं, जिसमें **"साहित्य की विभिन्न विधाओं में उल्लिखित महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज की प्रगतिशील विचारधारा"** विषय भी रखा गया है।

सम्मान्य श्रोतृगण ! विषय पर चर्चा करने से पूर्व **'साहित्य'** शब्द पर दृष्टिपात करते हैं। ज्ञान विस्तार की परम्परा युगों से चली आ रही है। इस विस्तार परम्परा को **"वाङ्मय और साहित्य"** ये दो शब्द दिये गये हैं। दोनों शब्दों का स्वरूपगत शब्दार्थ भिन्न है, पुनरपि तात्पर्यार्थ दोनों का एक ही समझा जाता है।

वाङ्मय[2] **वाक्यरूप शास्त्र को कहा जाता है** अर्थात् जिस वाणी को, ज्ञान को श्रवण परम्परा से ही जानते-जनाते थे, उसको जब पुस्तकाकार रूप दिया वही वाङ्मय कहलाया। तात्पर्य हुआ जो ऋषि ग्रथित वेद, वेदाङ्ग, आरण्यक, उपनिषद् आदि ग्रन्थ हैं उस आर्ष ज्ञान को जताने वाला वाङ्मय शब्द है।

और साहित्य शब्द की परिभाषा कोषों में इस प्रकार की गई है कि **विभिन्न पदों का एक ही क्रिया से अन्वय का नाम साहित्य है**[3] अर्थात् समान व्यवहार या परस्पर मिलने का नाम साहित्य है। साहित्य शब्द प्रायः कालिदास, माघ, भारवि आदि संस्कृत कवियों की रचनाओं का संकेतक रहा है, पर सम्प्रति साहित्य शब्द से प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के ग्रन्थों का परिज्ञान होता है। वाङ्मय तथा साहित्य की भाषायें मुख्यतः संस्कृत एवं हिन्दी हैं। साहित्य को उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, संस्मरण, आत्मकथा, यात्रावर्णन, सम्भाषण, रिपोर्ताज़ आदि विधाओं द्वारा वर्गीकृत किया गया है तथैव प्राचीन वाङ्मय को भी वेद-वेदाङ्ग, उपाङ्ग, आरण्यक आदि नामों से

---

१. २२ से २४ दिसम्बर २००० में सम्पन्न आर्य लेखक परिषद् कोटा, राजस्थान में पठित निबन्ध।

२. वाच् + मयट्, वाक्स्वरूपं, वाक्यस्वरूपशास्त्रम्। शब्दकल्पद्रुमे, वाचसत्ये च।

३. साहित्यम्—एकक्रियान्वयित्वम्, तद्यथा धवखदिरपलाशांश्छिन्धि, इत्यत्र धवखदिर-पलाशप्रतियोगिकं यत् साहित्यं तन्निरूपितं यदवयवविभागरूपफलं तज्जनिका या छिदिक्रिया तदनुकूलकृतिमांस्त्वम्। शब्दकल्पद्रुमे।।

विभक्त किया है। ब्राह्मण ग्रन्थ इतिहास आदि नामों से विभक्त हैं यथा-

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति। तै०आ०२।९।।

अर्थात् ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पाँच नाम हैं।

इतिहास = जैसे जनक याज्ञवल्क्य का संवाद।

पुराण = जगत् उत्पत्ति आदि का वर्णन।

कल्प = वेद शब्दों के सामर्थ्य का वर्णन, उनका अर्थ निरूपण करना।

गाथा = किसी का दृष्टान्त, दार्ष्टान्त रूप कथा प्रसङ्ग कहना।

नाराशंसी = मनुष्यों के प्रशंसनीय वा अप्रशंसनीय कर्मों का कथन करना।

इसी प्रकार प्राचीन वाङ्मय के भाष्य, उपभाष्य, आध्यात्मिक व्याख्यायें आदि भी साहित्य की विविध विधाओं में ही आते हैं।

वाङ्मय और साहित्य के वर्गीकरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि साहित्य सृजन मूलतः निर्माण है; चाहे वह व्यक्ति का निर्माण हो चाहे वह समष्टि का। साहित्य मानव जाति का छायावत् अविच्छिन्न साथी है। साहित्य वह वस्तु है, वह ताकत है, वह अस्त्र है जिसके द्वारा सात समुन्दर का अन्तर पार कर, उन्नत पर्वतों को लांघकर रहने वाले जो जन हैं उनके हृदय एक दूसरे के निकट आ जाते हैं, एक दूसरे के सुख दुःख से तादात्म्य कर लेते हैं अर्थात् साहित्य समाज की वह अपराजेय शक्ति है जिसका कोई भी तोप, कोई भी बारूद मुकाबला नहीं कर सकती।

सुचिन्तक श्रोतृवृन्द !

साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक, स्वच्छ, निर्मल, आध्यात्मिक, आदर्शवादी, कर्त्तव्यनिष्ठ, आचार निष्ठ बनाता है। दूसरे शब्दों में वह हमारे मन का संस्कार करता है। साहित्य सृजन केवल रुचि, इच्छा या विवशता का परिणाम नहीं है, क्योंकि इसके लिये जहाँ विशेष प्रतिभा एवं व्यापक, विस्तृत, गम्भीर अध्ययन आवश्यक होता है, वहीं चिन्तन, मनन, विवेचन, विश्लेषण, परहित परोपकार भी बड़ा अपेक्षित होता है। महर्षि दयानन्द इन सभी गुणों से परिपूर्ण थे। उनके द्वारा निर्मित साहित्य मनुष्य के जीवन को सुगठित जीवन बनाने में पूर्ण सक्षम है।

महर्षि दयानन्द महान् समाज सुधारक, वेद शास्त्रों के गम्भीर विद्वान्,

प्रबल राष्ट्रवादी, प्रगतिशील चिन्तक थे, साथ ही वे उच्चकोटि के साहित्यकार भी थे। उन्होंने अपने साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम संस्कृत और हिन्दी दोनों को ही बनाया। स्वामी जी के साहित्य की भाषा ओजस्वी, सरल, रोचक, धारा प्रवाह है। भारतीयों में स्वामी जी स्वदेश, स्वधर्म, स्वजाति की भावना भरना चाहते थे अतः उन्होंने बहुधा ओजस्वी शब्दों का प्रयोग किया है। उन्हें गाँव के साधारण मनुष्य तक वैदिक धर्म का अपना सन्देश पहुँचाना था अतः उन्होंने सुबोध, सरल भाषा का प्रयोग किया, जिसे अनपढ़ व्यक्ति भी सुगमता से समझ सके। स्वामी जी के साहित्य की एक और विशेषता है कि उन्होंने अपने कथन को वेदादि शास्त्रों से पदे-पदे पुष्ट किया है। एक भी बात बिना प्रमाण के प्रतिपादित नहीं की है। सत्यार्थप्रकाश में ही मनुस्मृति और धर्म शास्त्रों के एक हजार के लगभग उद्धरण दिये हैं।

ऋषिवर से पूर्व साहित्य के नाम पर कथा, कहानी एवं भक्ति विषय ही उसके प्रतिपाद्य होते थे। तत्कालीन साहित्य में दार्शनिक चिन्तन का अभाव था। शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विषय भी अछूते, अङ्गुलिगण्य थे। समाज सुधार सर्वथा उपेक्षित था। राजनैतिक चर्चा साहित्य का विषय नहीं माना जाता था। साहित्य से वेद का नाम मिट चुका था। वेद के मन्तव्यों से मानव जाति अपरिचित थी। अध्यात्म विषय विलुप्त था। महर्षि दयानन्द ने ही सर्वप्रथम साहित्य में आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, दार्शनिक, राजनैतिक विषयों पर लिखने का श्री गणेश अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश से किया। स्वामी जी का सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ वह ज्योति है, जिसने अनेकों जीवनों को उठाया है, और साहित्य की विभिन्न विधाओं को उजागर किया है।

महर्षि दयानन्द के साहित्य को मुख्यतः विभिन्न भागों में बाँटा जा सकता है-

१. वेद विषय (विद्या)- चतुर्वेद विषय सूची एवम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित ऋग्वेद, यजुर्वेद के भाष्य।
२. अध्यात्म एवं कर्मकाण्ड के ग्रन्थ (धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि)- आर्याभिविनय, पञ्चमहायज्ञविधि और संस्कारविधि।
३. वेदाङ्ग ग्रन्थ (विद्या)- पाणिनीय अष्टाध्यायी का भाष्य और वर्णोच्चारण

शिक्षा, सन्धिविषय आदि चौदह वेदाङ्गप्रकाश।

४. **खण्डन मण्डन के ग्रन्थ** (सभ्यता)- भागवत खण्डन, भ्रमोच्छेदन, भ्रान्ति निवारण, वेदान्तध्वान्त निवारण, शिक्षापत्री ध्वान्त निवारण, वेद विरुद्ध मतखण्डन आदि।

५. **वैदिक सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ** (अविद्यादि दोषों का छूटना)- सत्यार्थप्रकाश।

६. **सामान्य ज्ञान उपयोगी ग्रन्थ** (सभ्यता)- व्यवहारभानु, गोकरुणानिधि, आर्योद्देश्यरत्नमाला, संस्कृतवाक्यप्रबोध आदि।

७. **कतिपय शास्त्रार्थ ग्रन्थ**- काशी शास्त्रार्थ, मेला चाँदपुर आदि।

८. **पत्र एवं विज्ञापन**- विभिन्न समयों पर लिखे गये पत्रादि।

९. **प्रवचन**

महर्षि दयानन्द ने वेद विद्या के पुनः प्रतिष्ठापन के लिये ही साहित्य सृजन किया। पौराणिकों के शब्दों में **"स्वामी दयानन्द सरस्वती का अवतरण लुप्त हुये वेदज्ञान के पुनरुद्धार के लिये हुआ था"** ऐसा कहा जाता है। अभी कुछ दिन पूर्व इसी दिसम्बर मास में वाराणसी के सेवा निवृत्त इन्कम टैक्स कमिश्नर **'श्रीयुत पं. चन्द्रभाल राय "पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी"** में सामवेद के भाष्य देखने आये हुये थे। उस समय उन्होंने बड़े ही श्रद्धाभिभूत होते हुये ऋषिवर दयानन्द के प्रति जो भाव प्रकट किये वे बड़े ही मार्मिक थे। वे कहने लगे "बहिन जी ! पौराणिक जगत् में साहित्य बहुत हैं, पर आश्चर्य है कि कोई भी पौराणिक भाई न वेद को जानता है, न उसने वेद को देखा है और न ही वेद के मन्तव्यों से परिचित है तो कैसे समाज का चरित्रोत्थान होगा, समाज से वैर भाव मिटेंगे, यह तो दयानन्द जी की ही बड़ी कृपा है कि उन्होंने घर-घर वेदों को पहुँचाया, वेदों के दर्शन कराये, मानव जीवन के कल्याण की जो बातें हैं उनसे अवगत कराया।

दयानन्द जी न होते तो हम सोम, अग्नि, इन्द्र, रुद्र, वरुण आदि शब्दों के अर्थ वही जानते, जो सायण, उव्वट, महीधर, मैक्समूलर आदि ने किये हैं और उपन्यास, कथा, कहानियों में हमने पढ़े थे। ये अग्नि-आदि शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ वाले हैं इनका अलौकिक कथन है यह हम न जान पाते। बहिन जी ! सायण आदि के भाष्य में शब्दों के पर्यायवाची तो दिये हैं, पर समझ नहीं आते। महर्षि की बड़ी कृपा है, आर्य समाज का बड़ा उपकार

है।" जब मैंने उनसे कहा कि "आप उन सबको क्यों नहीं कहते इसी प्रकार के पठन-पाठन के लिये" तो बड़े आर्द्र भाव से कहने लगे, बहिन जी ! उनकी रोजी-रोटी का प्रश्न है। चर्चा लम्बी है, अस्तु।

इस प्रकार महर्षि का कितना उपकार है साहित्य जगत् पर यह सामान्य नागरिकों की वाणी से स्पष्ट है।

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त ऋषि-मुनियों ने वेद भाष्य की जिस शैली को अपनाया था, हजारों वर्षों के पश्चात् महर्षि ने उसका अनुसरण करते हुये वेदों का भा य संस्कृत और हिन्दी में करके जनता के सामने रखा। महर्षि दयानन्द ने वेदों को जन-जन तक पहुँचाकर मानव जाति का बड़ा उपकार किया है। साहित्य जगत् में महर्षि का यह कार्य अप्रतिम एवम् अद्वितीय है।

साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ वेदों को उस समय जादू-टोना, मारण, उच्चाटन, मोहन, वशीकरण, भूत-प्रेत, पिशाच, तन्त्र विद्या आदि का केन्द्र समझा जाता था। महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका लिखकर वेद के प्रमाणों, तर्कों तथा युक्तियों से सिद्ध किया कि वेद ईश्वर, जीव, प्रकृति इन अनादि सत्ताओं के ख्यापक हैं तथा ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं। वेद के सम्बन्ध में विभिन्न भ्रान्तियों को हटाकर ऋषिवर ने निम्नलिखित सिद्धान्तों को अपने साहित्य के माध्यम से रखा-

१. वेद संज्ञा केवल चार मन्त्र संहिताओं की है, ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं।
२. वेद नित्य, ईश्वरीय अपौरुषेय ज्ञान हैं।
३. ईश्वर एक है और उसका मुख्य नाम 'ओ३म्' है।
४. मनुष्य में स्वाभाविक ज्ञान होने पर भी वह बिना नैमित्तिक ज्ञान के ज्ञान विस्तार नहीं कर सकता और उस ज्ञान को देने वाला परमात्मा है।
५. ईश्वर ने जैसे अनेक पदार्थ उत्पन्न किये हैं वैसे ही उन पदार्थों का ज्ञान भी अग्नि, वायु आदि ऋषियों के अन्तःकरण में प्रतिभासित किया।
६. जैसे ईश्वर प्रदत्त पदार्थ मानव मात्र के लिये हैं उसी प्रकार वेद भी मानव मात्र के लिये हैं उस पर किसी जाति, देश या वर्ग का अधिकार नहीं है।
७. वेद सार्वकालिक और सार्वभौम हैं।
८. वेद में किसी जाति, व्यक्ति विशेष या देश का इतिहास नहीं है।

९. वेद के सभी शब्द यौगिक या योगरुढ हैं, रूढि नहीं।
१०. वेद स्वतः प्रमाण हैं।
११. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।
१२. वेद ईश्वर, जीव, प्रकृति इस त्रैतवाद का प्रतिपादक है।
१३. वेद मन्त्रों के अर्थ अधियज्ञ, आध्यात्मिक, आधिदैविक त्रिविध प्रक्रिया में होते हैं।
१४. उपमा आदि अलङ्कारों द्वारा वेद मन्त्रों का व्यावहारिक अर्थ वेदानुकूल होने से मान्य है।
१५. वेद पूर्ण हैं, वेद की रचना बुद्धिपूर्वक है।

वेद विषयक महर्षि के इन अनमोल सिद्धान्तों ने मानव जाति को जड़ता, अन्धविश्वास, आडम्बर, बहुदेवतावाद आदि पाखण्डों से हटाकर जितना उपकार किया है उतना उपन्यास आदि विभिन्न विधाओं वाला साहित्य नहीं कर सका। महर्षि से अतिरिक्त साहित्य ने मानव को जितना आनन्द, आमोद-प्रमोद का सुख दिया, उतना जीवन निर्माण का नहीं। महर्षि दयानन्द ने अपनी रचना से साहित्य निर्माण के सही उद्देश्य को उजागर किया है।

मान्य साहित्यसेवी जन !

महर्षि दयानन्द हिन्दी की प्रौढ़ गद्य शैली के जनक कहे जाते हैं, तत्कालीन समय में साहित्यकार राष्ट्र को मात्र मनोविनोद करने वाले साहित्य को परोस रहे थे, उस समय महर्षि ने हिन्दी गद्य साहित्य में अध्यात्म, दर्शन, राजनीति, आश्रमव्यवस्था, वर्णव्यवस्था आदि गूढ़ विषयों का समावेश करके प्रगतिशील विचारधारा का अनोखा कार्य किया। सत्यार्थ प्रकाश इन सभी विषयों का उत्तम प्रतिपादक है। साहित्य के अध्यात्म क्षेत्र में पञ्चमहायज्ञविधि संस्कृत और हिन्दी में तथा आर्याभिविनय हिन्दी में लिखकर एक नई दिशा साहित्य को दी।

साहित्य सृजन की विधा में महर्षि ने अपनी नवीन शैलियों का भी प्रभाव छोड़ा है, यथा-किसी भी बात के प्रतिपादन में गम्भीर तर्कपूर्ण शैली का प्रयोग किया है। कुरीतियों के खण्डन में रोष पूर्ण शब्दों का अवलम्ब

लिया है। अन्धविश्वास के वर्णन में व्यंग्यात्मक शैली भी साहित्य जगत् के लिये महर्षि की अनूठी शैली है। दृष्टान्त शैली भी स्वामी जी ने अपनाई है जो व्यवहारभानु और सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में प्रचुर मात्रा में उल्लिखित है। चिरकाल से चली आई प्रश्नोत्तर शैली को भी अपने ग्रन्थों में बहुधा माध्यम बनाया है।

महर्षि दयानन्द ने साहित्य जगत् को नये-नये आयाम भी दिये हैं। स्वामी जी के आविर्भाव से पूर्व साहित्य में श्रृंगार रस का प्राबल्य था। वे बाल ब्रह्मचारी थे, उन्होंने ब्रह्मचर्य को महत्त्व दिया और श्रृंगार रस प्रधान उपन्यास, नाटक, कविताओं आदि का घोर विरोध किया। जब **"भारत सुदशा प्रवर्त्तक"** नामक पत्र के सम्पादक ने नाटक छपवाने शुरू किये तो उन्होंने एक पत्र में लिखा था-

लाला कालीचरण दास जी आनन्दित रहो।

"विदित हो कि तुम आर्य समाज के पत्र में नाटक का विषय मत छापो। यह अनुचित बात है। यह आर्य-समाज है, भड़ुवा समाज नहीं, जो तुम नाटक का विषय छापते हो, ऐसा करना भड़ुवापन की बात है। इसलिये ऐसा बरतना उचित नहीं[१]।"

ऋषि दयानन्द ने अपने साहित्य में नारी शिक्षा, नारी सम्मान को अत्यधिक स्थान दिया, जिससे उस युग के कवियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। कहा जाता है द्विवेदी युग पर स्वामी दयानन्द की पवित्रतावादी भावना का ऐसा आतङ्क छाया हुआ था कि श्रृंगार रस की श्रृङ्गारिक कवितायें समाप्तप्राय थीं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि **'रामधारी सिंह दिनकर'** के अनुसार उस समय के कवि लोग कामिनी नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे थे। श्रृंगार रस की कविता लिखते समय यह प्रतीत होता था **"जैसे स्वामी**

१. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग पृ० ६२१॥ पूर्ण संख्या ५९२, रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित।

दयानन्द पास ही खड़े सब कुछ देख रहे हों।" दिनकर की मान्यता है कि स्वामी जी का ब्रह्मचर्य, नैतिक शुद्धता और पवित्रता पर बल देना हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महान् उल्लेखनीय तथ्य है।

महर्षि दयानन्द के पश्चात् उनका अनुकरण करते हुये आर्यसमाज के अनेकों विद्वानों ने भी साहित्य सृजन का कलेवर बढ़ाया है। वेद शास्त्रों के अनुशीलन से दार्शनिक, आध्यात्मिक, सामाजिक विधाओं के ग्रन्थ लिखे हैं। संस्कृत में अनेक महाकाव्यों की रचना की है। उपन्यास, निबन्ध, नाटक, समीक्षा, आत्मकथा, यात्रावर्णन आदि लिखकर आधुनिक साहित्य की श्रीवृद्धि की है। आज भी आर्यसमाज के विद्वान् साहित्यिक क्षेत्र को आगे बढ़ाने के कार्य में निरन्तर लगे हुये हैं, जो सन्तोष का विषय है।

पर चिन्तनीय किञ्चित् यह है कि लेखक मौलिकता न्यून प्रदान कर पा रहे हैं, लच्छेदार भाषा द्वारा पिष्टपेषण से पुस्तकों की भरमार कर रहे हैं तथा कभी-कभी वेद विरुद्ध भी लिख जाते हैं और दयानन्द की तुलना सायण से कर बैठते हैं या सायण को दयानन्द की कोटि में बिठा देते हैं। जब कि महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों को देखने से भली-भाँति ज्ञात होता है कि सायण क्या था ? इस विषय में पदवाक्य प्रमाणज्ञ पू.पं. श्री गुरुवर्य ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी का **"सायणाचार्य वेदार्थ तक नहीं पहुँचा" "सायण की भूल के दु परिणाम"** यह उनका डंके की चोट का कथन महत्वपूर्ण तथ्य है।

तो इस प्रकार हमारी साहित्य रचना वेद तथा महर्षि के अनुकूल हो, राष्ट्रोन्नायक हो, यह साहित्यकारों का लक्ष्य होना चाहिये।

❖❖❖

मृत हो कि जीवित जाति का साहित्य जीवन चित्र है।
वह भ्रष्ट है तो सिद्ध फिर वह जाति भी अपवित्र है।।

-भारत-भारती

गुरुवर दयानन्द-

व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व

सरस्वती यस्य सदावतिष्ठते
सुनामधेयाग्रपदेतिशोभना।
समस्तवेदार्थपटीयसी कथम्,
न तिष्ठताद् ब्रह्मपदे स देवराट्[1]।।

अपूर्व व्यक्तित्त्व के धनी देश-कल्याणैकनिष्ठ स्वदेशाभिमानी, राष्ट्रवादी, दूरद्रष्टा **जगद्गुरु महर्षि दयानन्द** ने जहाँ बड़े-बड़े **वेदभाष्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि आदि** उच्चकोटि के ग्रन्थरत्नों को जन्म दिया, वहीं उन्होंने छोटे-छोटे ट्रैक्टों के रूप में **व्यवहारभानु, आर्योद्देश्यरत्नमाला, पञ्चमहायज्ञविधि, आर्याभिविनय** इत्यादि ग्रन्थों की भी रचना की। इन लघुकृतियों के पीछे ऋषिवर दयानन्द के हृदय में विश्व को सतयुग बनाने की भावना कार्य कर रही थी। उनकी आँखें उस दिन को देखने के लिए लालायित थीं, जिस दिन सम्पूर्ण देशवासी देव बन जायेंगे और देश देवालय बन जायेगा। अपनी इस ललक को पूरा करने के लिए उन्होंने यह भली-भाँति समझ लिया था, कि जिस प्रकार बच्चा अङ्गुली पकड़कर सीढ़ी पर और सीढ़ी से महल पर पहुँचता है, उसी प्रकार ऋषियों द्वारा प्रसृत ज्ञान-गङ्गा तक पहुँचने के लिए उद्बोधक रचनाओं की भी आवश्यकता है, अतः उन्होंने ज्ञान शिखर तक पहुँचने के लिए इन सोपानरूपी लघुपुस्तिकाओं का निर्माण किया। सचमुच इन लघुपुस्तकों का दर्शन एवं अध्ययन कर महान् आश्चर्य होता है कि ऋषित्व की पदवी को प्राप्त **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** आदि गूढ ग्रन्थों का रचयिता कैसे इतने छोटे विषयों पर लेखनी चला गया। वस्तुतः यह सब उनके महान् एवं अद्भुत व्यक्तित्व का ही परिचायक है।

---

१. दयानन्द दिग्विजय १।१६॥

तलस्पर्शी शास्त्रों का ज्ञान रखने वाले वेदवेत्ता उस ऋषि ने बहुत ही छोटा पर जीवन के लिये परमोपयोगी **'व्यवहारभानु'** यानी व्यवहार का सूर्य बनाकर सारगर्भित, किन्तु रसभरी, हास्य व्यंग्यात्मक शैली एवं चुटकीली भाषा में जीवन की दिनचर्या तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की इकाई का कर्त्तव्य हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है। इस पुस्तिका को व्यवहार की कसौटी का संग्रह कहना अनुपयुक्त न होगा, बच्चे अपने बड़ों तथा छोटों से कैसा व्यवहार करें, माता-पिता का क्या कर्तव्य है, गुरु शिष्य का क्या सम्बन्ध है, राजा एवं प्रजा कैसी हो? इन सबका दिग्दर्शन ऐसे-ऐसे दृष्टान्तों द्वारा प्रस्तुत किया है जो देखते ही बनता है। मूर्ख के लक्षण बताते हुए जो शेखचिल्ली और बनिया का दृष्टान्त दिया है, तथा **"पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं, न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं, तर्हि दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम्"** कहने वाले हुड़दंगे तथा सज्जन का संवाद दिया है एवं अधर्मी राजा का वर्णन करते हुए स्वामी जी ने जो यह लिखा है कि **"अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा, टके सेर भाजी टेक सेर खाजा"** इन सब दृष्टान्तों से जहाँ आबालवृद्ध प्रत्येक व्यक्ति व्यवहार की शिक्षा लेकर लाभान्वित होता है वहीं ऋषिवर के व्यक्तित्व पर भी गहरा प्रकाश पड़ता है, क्योंकि किसी के भी व्यक्तित्व को निखारने में उसकी कृतियाँ बहुत अधिक सक्षम रहती हैं।

यतिवर दयानन्द ने अपने यायावरीय जीवन में यह भी अनुभव किया, कि कोई सिद्धान्तों का ऐसा पारिभाषिक ग्रन्थ होना चाहिए जिससे आर्य किसी भी पहलू पर विधर्मियों द्वारा परास्त न हो सकें, तथा सर्वाङ्गीण उन्नति करें। उस आवश्यकता को उन्होंने **'आर्योद्देश्यरत्नमाला'** पुस्तिका के रूप में पूर्ण किया, जो आर्यों के सौ मन्तव्यों का एक संग्रह है, इसमें ईश्वर, धर्माधर्म, सत्यासत्य आदि का निर्णय थोड़े किन्तु सटीक शब्दों में किया गया है, यद्यपि यह ग्रन्थ आकार में बहुत लघु है, पर है अत्यन्त महत्वपूर्ण।

सचमुच ऋषिवर की असाधारण तार्किकता एवं संयोजन शक्ति अपूर्व थी, जिसके साक्षी उनके छोटे-छोटे रत्नतुल्य बहुमूल्य ग्रन्थ दे रहे हैं। उनका व्यक्तित्व अद्वितीय था, उनसे भय कोसों दूर था, इसी कारण वे पूर्ण निर्भीकता से वेदानुकूल न्यायोक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सके।

स्वामी जी ने मनुस्मृति में प्रतिपादित जिन **पञ्चयज्ञों** का स्वरूप ढोंग ढकोसलों में परिणत हो गया था, लोग **ब्रह्मयज्ञ** अर्थात् सन्ध्या की जगह मूर्त्तिपूजन करते थे, **देवयज्ञ** के नाम पर सूर्य, नक्षत्र आदि एवं कदली, तुलसी आदि वृक्षों को जल चढ़ाते थे, **पितृयज्ञ** के नाम पर श्राद्ध व पिण्डदान यानी जीवित माता-पिता को तरसाना और मरे माता-पिता को तोषक तकिया[1] देना ही सच्चा श्राद्ध तथा तर्पण समझते थे, **बलिवैश्वदेव यज्ञ** की इतिकर्त्तव्यता पशुबलि चढ़ाने में ही मानते थे, **अतिथियज्ञ** की पूर्णता मठाधीशों की सेवा द्वारा करते थे।

उन पञ्चमहायज्ञों का सत्य स्वरूप हमारे सामने **'पञ्चमहायज्ञविधि'** के रूप में प्रस्तुत किया एवं इन यज्ञों को महायज्ञ की पदवी से अलंकृत किया। पञ्चमहायज्ञों के द्वारा देवगुरु ने आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक, उन्नति के साथ-साथ आचार की शिक्षा दी, और हमें बताया, कि हमारे **पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ** आदि तभी सफल हैं, जब हम श्रद्धा, भक्ति से तर्पण करें, सत्कार करें अर्थात् इन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट न होने दें।

इसी प्रकार सरस्वतीपुत्र, सच्चे ईश्वर भक्त देव दयानन्द द्वारा लिखी गयी **'आर्याभिविनय'** पुस्तिका भी उनके व्यक्तित्व को उभारने में कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनकी चहुँमुखी दृष्टि प्रत्येक क्षेत्र में अबाध गति से गई

---

१. जियत पिता को टूटी खटिया, मरे पिता को तोषक तकिया।
जियत पिता से [illegible], मरे पिता पहुँचावे [illegible]॥

हुई थी, इस ग्रन्थ में ईश्वर के गुणों का वर्णन करते हुए, विशेषण पर विशेषण लगाकर जो भक्ति दर्शाई है, वह अपने आपमें अनूठी है। भक्ति का प्रवाह मानो हिलोरें ले रहा है, इतना ही नहीं, अपितु विशेषता यह है कि ईश्वर भक्ति के साथ-साथ पुस्तिका में देशभक्ति का भी प्राचुर्य है, **स्थान-स्थान पर स्वराज एवं चक्रवर्ती राज्य की स्थापना की प्रार्थना की गई है,** वह उनके शब्दों में ही द्रष्टव्य है, मन्त्र है-

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व
क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व।
धर्मासि सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय
ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय।।

आर्याभि० ३१, यजु० ३८/१४॥

यहाँ मन्त्र की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं- **"हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् (क्षत्राय०) अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिए शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों, तथा हम लोग पराधीन कभी न हों"।**

कुछ नकली भक्त जन अपने आपको सच्चा ईश्वरभक्त मानने वाले कहते हैं कि ऋषि दयानन्द भक्ति शून्य थे, उन लोगों को विदित हो कि भक्ति या योग केवल रमरमी रमा कर मठाधीश बन एकान्त में झांझ मंजीरे बजाने का नाम नहीं है, जो राष्ट्र तथा राष्ट्रवासियों को पङ्गु और निष्क्रिय बना दे। प्रचलित ईश्वर भक्ति के दुष्परिणाम इतिहास में भरे पड़े हैं, इस भक्ति के ही परिणाम स्वरूप आज राष्ट्र ईसाइयत, तथा इस्लामियत से जकड़ा हुआ है। महर्षि की ईश्वरभक्ति को समझना उदार चेताओं का ही कार्य है, टन्-

टन्, पूँ-पूँ में लगे हुए **ईश्वर भक्त** कहलाने वाले महर्षि की **ईश्वर भक्ति** को यदि आज भी समझ जायें, तो इस क्षण से ही राष्ट्र में सुख, शान्ति, आनन्द दीखेंगे।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द अत्यन्त महान् थे एवं उनकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म थी, वे युगद्रष्टा थे, युगनिर्माता थे अतः उन्होंने इतनी बहुमूल्य छोटी से लेकर बड़ी रचनायें हमें प्रदान कीं, जिसके हम सदैव ऋणी हैं।

❖❖❖

खाखी-पण्डित संवाद

पण्डित- सुनो साधुजी! विद्या की बात बहुत कठिन है, बिना पढ़े नहीं आती।

खाखी- चल बे, सब विद्वान् को हमने रगड़ मारे, जो भांग में घोट एक दम सब उड़ा दिये। सन्तों का घर बड़ा है, तूं बाबूड़ा क्या जाने। देख हम दिन रात नंगे रहते, धूनी तापते, गांजा चरस के सैकड़ों दम लगाते, भीख माँग कर टिक्कड़ बना खाते, रात भर ऐसी खाँसी उठती जो पास में सोवे उसको भी नींद कभी न आवे। इत्यादि सिद्धियाँ और साधूपन हममें है।

पण्डित- ये सब लक्षण असाधु मूर्ख और गवर्गण्डों के हैं साधुओं के नहीं। सुनो **'साध्नोति पराणि धर्मकार्याणि स साधुः'** जो धर्मयुक्त उत्तम काम करे, सदा परोपकार में प्रवृत्त हो, कोई दुर्गुण जिसमें न हो, विद्वान्, सत्योपदेश से सबका उपकार करे उसको **साधु** कहते हैं।

- महर्षिदयानन्द-सत्यार्थ० एका०पृ० ३३७-३३८।।

स्वतन्त्रता और स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्द का स्वतन्त्रता के साथ वह सम्बन्ध है, जो कि भवन निर्माण में नींव की ईंट का होता है। महर्षि वह व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम भारत की स्वतन्त्रता का नारा लगाया, इससे पूर्व कभी **'स्वराज्य'** शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था, उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ **'सत्यार्थप्रकाश'** के अष्टम समुल्लास में लिखा है -

"कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

पृ० २१३।।

क्रान्तिकारी युगप्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द ने एक बार ही नहीं, अपितु अनेकों बार अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आवाज उठाई। सन् १८७३ ई० कलकत्ता में जब **'वाइसराय'** के साथ भेंट हुई तब 'वाइसराय' ने स्वामी जी से कई प्रश्न किये, जिनमें यह प्रश्न भी था कि 'आप विदेशी राज्य में बोलने में स्वतन्त्र हैं तो क्या आप अपने देश में अंग्रेजी शासन द्वारा उपलब्ध उपकारों का भी जनता में वर्णन किया करेंगे?' इसके उत्तर में राष्ट्रनायक स्वामी दयानन्द ने कड़कते हुए शब्दों में कहा-

'महोदय! मैं ऐसी किसी बात को मानने में असमर्थ हूँ क्योंकि यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे देशवासियों को अबाध राजनीतिक उन्नति और संसार के राज्यों में समानता का दर्जा पाने के लिए शीघ्र ही पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। श्रीमान् जी! मैं तो ईश्वर से नित्य सायं-प्रातः उसकी अपार कृपा से इस देश को विदेशियों की दासता से मुक्ति की ही प्रार्थना करता हूँ[1]'

योगिराज के हृदय में एक ओर स्वदेश प्रेम तरंगित हो रहा था दूसरी ओर विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह की उग्र ज्वाला धधक रही थी। यह कम महत्व की बात नहीं है, कि जिस समय अंग्रेजी शासन का इतना आतंक था कि कोई चूँ तक करने का साहस नहीं कर सकता था, उस समय अकेले जननायक दयानन्द निःशंक होकर विद्रोह का शंख बजा रहा था। इसी का परिणाम था कि प्रायः प्रत्येक आर्यसमाजी स्वाधीनता का सन्देशवाहक बन गया और इसकी प्रत्येक संस्था स्वाधीनता आन्दोलन की केन्द्र बन गयी।

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द, पञ्जाब केसरी लाला लाजपतराय, श्याम जी कृष्ण वर्मा, (जिन्हें महर्षि दयानन्द ने अपने व्यय से इंग्लैण्ड में विशेष शिक्षा प्राप्त करने व भारतीय धर्म, संस्कृति स्वातन्त्र्य प्राप्ति की आग फूंकने की दृष्टि से भेजा था, उन्होंने इंग्लैण्ड जाते ही सन् १९०५ में **'इण्डियन होम नेशनल सोसायटी'** की स्थापना की, जिसका लक्ष्य भारत के लिए स्वराज्य प्राप्ति था) एवं **राम प्रसाद बिस्मिल, मदन लाल धींगरा, सरदार भगत सिंह** प्रभृति महानुभाव आर्यसमाज की ही देन थे। महात्मा गाँधी के मार्ग को भी स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने ही प्रशस्त किया।

---

1. दयानन्द जीवनी पृ० १४२।। लेखक- आचार्य जगदीश विद्यार्थी

ऋषिवर दयानन्द स्वतन्त्रता आन्दोलन के सजग और प्रथम प्रहरी थे, इस तथ्य को देशी-विदेशी लेखक, उपदेशक, नेता, राजनेता सभी सश्रद्ध मानते हैं, तथा च-

"वर्तमान स्वराज्यान्दोलन के कारण स्वामी दयानन्द की गिनती भारत के निर्माताओं में स्वीकार की जानी चाहिए। स्वामी दयानन्द एक महान् तथा पुण्यशाली व्यक्ति थे। वे भारत वर्ष के कीर्त्तिस्तम्भ थे, यह सबको स्वीकार करना पड़ेगा। उनको खोकर भारत की भीषण शोचनीय हानि हुई है।"

- ग्रास ब्रोव्ड

"ऋषि दयानन्द जाज्वल्यमान नक्षत्र थे, जो भारतीय आकाश पर अपनी अलौकिक आभा से चमके और गहरी निद्रा में सोये हुए भारत को जागृत किया। **"स्वराज्य के वे सर्वप्रथम सन्देशवाहक** तथा मानवता के उपासक थे।"

-लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

"महर्षि दयानन्द स्वाधीनता संग्राम के सर्वप्रथम योद्धा और हिन्दू जाति के रक्षक थे। उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने राष्ट्र की महान् सेवा की है, और कर रहा है। स्वतन्त्रता के संग्राम में आर्यसमाजियों का बड़ा हाथ रहा। महर्षि जी का लिखा अमर ग्रन्थ **"सत्यार्थप्रकाश"** हिन्दू जाति की रगों में उष्ण रक्त का सञ्चार करने वाला है। **"सत्यार्थप्रकाश"** की विद्यमानता में कोई विधर्मी अपने मज़हब की शेखी नहीं मार सकता।"

-स्वातन्त्र्यवीर सावरकर

"बहुत से लोग महर्षि दयानन्द को सामाजिक और धार्मिक सुधारक कहते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में तो वे सच्चे राजनैतिक थे। ४० वर्ष से कांग्रेस का जो कार्यक्रम रहा है, वह सब कार्यक्रम **आज से ६० वर्ष पूर्व**

ऋषि दयानन्द ने देश के सामने रखा था। सारे देश में एक भाषा, खादी, स्वदेशप्रचार, पञ्चायतों की स्थापना, दलितोद्धार, राष्ट्रीय और सामाजिक एकता, उत्कट देशाभिमान और स्वराज्य की घोषणा यह सब महर्षि दयानन्द ने देश को दिया है। सचमुच हम भाग्यहीन थें, यदि ६० वर्ष पहले इस कार्यक्रम को समझ कर आचरण किया होता, तो भारत वर्ष कब का स्वतन्त्र हो गया होता।"

"मैं ऋषि दयानन्द को अपना राजनैतिक गुरु मानता हूँ मेरी दृष्टि में तो वे महान् विप्लववादी नेता और राष्ट्रविधायक थे"

-विट्ठल भाई पटेल

"महर्षि दयानन्द महान् राष्ट्र नायक और क्रान्तिकारी महापुरुष थे, उन्होंने व्यावहारिक् रूप से जीवन के प्रत्येक पहलू में अपनी छाप छोड़ी है। उन्होंने देश में धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो काम किया वह अभूतपूर्व है। उन्होंने जो काम पकड़ा, उसे पूरी तरह से निभाया। उन्होंने हिन्दू धर्म का कल्याण किया। वह बड़े दृढ़ व्यक्ति थे। उन जैसा क्रान्तिकारी नेता होना बिरले ही लोगों का काम होता है। उन्होंने ऐसे समय में देश का नेतृत्व किया, जब बुराइयों की ओर संकेत करना भी कठिन काम था।

उन्होंने हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का घोष नाद किया, और छूत-छात तथा जात-पाँत के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा। स्वराज्य, और स्वदेशी की उन्होंने ऐसी लहर चलाई, जिससे इण्डियन नेशनल कांग्रेस के निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी।"

-लाल बहादुर शास्त्री

'गाँधी जी' राष्ट्र के पिता थे तो 'महर्षि दयानन्द सरस्वती, राष्ट्र के 'पितामह' थे। महर्षि जी हमारी राष्ट्रीय प्रवृत्ति और स्वाधीनता आन्दोलन के आद्य प्रवर्त्तक थे, गाँधी जी उन्हीं के पदचिह्नों पर चले।

यदि महर्षि दयानन्द हमें मार्ग न दिखाते तो अंग्रेजी शासन में उस समय सारा पञ्जाब मुसलमान बन जाता और सारा बंगाल हो जाता ईसाई। महर्षि जी ने सारे विश्व को आर्य बनाने की प्रेरणा दी। महर्षि दयानन्द दिव्य महापुरुष थे, उन्होंने ईसाई मत और इस्लाम के हमलों से देश की रक्षा की। आर्यसमाज देश की एकता के लिए कार्य कर रहा है।"

–अनन्तशयनम् अय्यंगार

"मैं देखता हूँ कि कोई भी हिन्दू जब आर्यसमाज में आता है तो उसमें बहुत विशेषता आ जाती है। उसके अन्दर उत्साह, देशभक्ति, कर्मशीलता और एक प्रकार की अद्भुत स्प्रिट काम करने लगती है।

देश के कामों को ही लीजिए जब तक **और लोग स्वराज्य का स्वप्न देख रहे थे, स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज अपनी पुस्तकों द्वारा उसका प्रचार करने में लगे थे।** मैं प्रसन्नता के साथ कहता हूँ कि असहयोग के युग से पहले लगभग **९० प्रतिशत आर्यसमाजी स्वराज्य के कार्यों में हिस्सा लेने वाले लीडर थे।** जबकि अन्य सोसायटियों के मुश्किल से २-३ प्रतिशत आदमी ही स्वराज्य का काम करते थे।"

–मौलाना हसरत मोहनी

"गाँधी जी से पूर्व महर्षि दयानन्द ने राष्ट्र के लिए महान् कार्य किया उन्होंने भारतीयों को **स्वराज्य का मार्ग बताया।** ऋषि एक पूर्ण पुरुष थे, भारत के युगनिर्माता थे।"

– डा० पट्टाभिसीतारमैय्या

"स्वामी दयानन्द जी अन्धकार दूर करने वालों में अग्रणी थे, अपनी दिव्य दृष्टि से उन्होंने भारत का सांस्कृतिक निर्माण किया। स्वामी जी **ने राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रेरणा दी** और उस वातावरण को तैय्यार किया, जिससे पीछे प्रेरणा पाकर गाँधी जी, लोकमान्य तिलक तथा पं० नेहरू जैसे नेताओं ने काम करके देश को स्वतन्त्र कराया।"

–यशवन्तराव बलवन्तराव चौहान

महर्षि दयानन्द के प्रति अभिव्यक्त किये गये उपर्युक्त महानुभावों के कथन स्पष्ट द्योतित कर रहे हैं कि **राष्ट्रोद्धारक दयानन्द ही स्वतन्त्रता के अगुवा थे।**

स्वामी जी देशवासियों में स्वदेश भक्ति भरने के लिए एवं अपने देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए ही विदेशी वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते थे। एक बार उनको हज़ामत बनाने के लिए **जापान का ब्लेड** दिया गया, तो उन्होंने विदेशी होने के कारण उसे ग्रहण नहीं किया। स्वामी दयानन्द स्वयं ही नहीं अपितु औरों का भी स्वदेश के प्रति लगाव बढ़ाना चाहते थे–

"एक बार ठाकुर **ऊधोसिंह छावली निवासी** अपने पिता ठाकुर भूपाल सिंह के साथ **अलीगढ़** में स्वामी जी के दशनार्थ आये उस समय उन्होंने विलायती कपड़े, नये ढंग के धारण किये हुए थे, उनको देख स्वामी जी ने अति प्यार से कहा– "ऊधव देखो! तुम्हारे पिता कैसे मोटे, सादे और अपने देश के बने कपड़े के वस्त्र पहनते हैं। उनका समाज में कितना अधिक सम्मान है क्या तुम इस विदेशी कपड़े के बने हुए, नये वेश से विभूषित हो कर, अपने पिता से अधिक सुसंस्कृत हो,– ऊधव! **अपने ही देश की वस्तु, वेश को अपनाने में शोभा है**"। स्वामी जी का यह उपदेश ऊधवसिंह के हृदय में घर कर गया, उन्होंने अपने डेरे पर जाकर, वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढंग के स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये।"

ऊधोसिंह को दिये गये इस उपदेश से स्पष्ट ज्ञात होता है कि महर्षि दयानन्द के मन में असाधारण दूरदर्शिता एवं स्वराज्य की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी।

नाना साहब पेशवा जी १८५७ के संग्राम में असफल होने के कारण आत्मग्लानि से आत्महत्या करने को तत्पर थे, ऐसी नाजुक स्थिति में उन्हें ऋषि दयानन्द ने द्वितीय युद्ध में भाग लेने को उत्साहित किया, एवं संन्यास ग्रहण करके धार्मिक तथा राष्ट्रोद्धार के कार्य पूर्ण करने को प्रेरित किया।

इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि स्वामी दयानन्द का **स्वतन्त्रता आन्दोलन** में प्रथम और महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

❖❖❖

आर्यो! सावधान! दयानन्द देख रहे हैं!

आचार- विचार, आहार-विहार, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, उपासना-भक्ति एवं आत्मा की पवित्रता को, शिक्षा को समझने वाला मनुष्य कहा जाता है, जब मनुष्य शिक्षा, आचार-विचार आदि जिस किसी से भी दूर हो जाता है, तो मनुष्यपन का अभाव हो जाता है।

महर्षि दयानन्द जिस समय कार्यक्षेत्र में उतरे, उस समय पूरा वातावरण बड़ा ही नाजुक था। शिक्षा का प्रायः अभाव हो चुका था, जो थी भी, उसमें बहुत प्रकार की विकृतियाँ आ चुकी थीं, आहार-विहार दूषित था, आचार दुराचार युक्त था। कर्त्तव्य को आलस्यरूपी पिशाच ने दबोच रखा था, ईश्वरोपासना, यज्ञ-यागादि के स्थान पर जड़-पूजा का बोलबाला था। जीवन का उद्देश्य भोग-विलास समझा जाता था। ऐसे समय में महर्षि ने चहुँदिशि भ्रमण करके समझ लिया था कि **यह अनर्थ मात्र आर्षशिक्षा के अभाव के ही कारण है,** अतएव महर्षि ने वेदादि आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन की परम्परा का उद्घोष किया। गुरुकुल शिक्षा पद्धति की पुनः स्थापना की, क्योंकि मनुष्यता आर्षशिक्षा और गुरुजनों के सान्निध्य से ही आ पाती है। गुरुजन अपने कुलों में वास करते हुये भौतिक पदार्थ ज्ञान के साथ-साथ आध्यात्मिक ज्ञान का बोध कराते हैं। वह आध्यात्मिक ज्ञान बालक-बालिकाओं को जहाँ जगन्नियन्ता ब्रह्म के स्वरूप को बतलाता है, वहीं उसके साथ-साथ दुराचार, दुर्गुण, दुर्व्यसनों से कोसों दूर रखने में सक्षम रहता है और मनुष्यता को बनाये रखता है।

महर्षि दयानन्द ने आर्ष-शिक्षा किस प्रकार की हो, किस विधि से हो, इसका पूरा-पूरा विवरण **सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि** में दिया है। बालक-बालिकाओं का निर्माण किस प्रकार से हो, इसके लिये आचार्य-आचार्याओं को सत्यार्थप्रकाश में लिखे गये महर्षि के अनमोल वचन सर्वदा ही ध्यातव्य हैं। वे वचन जितने वर्तमान युग से पहले ध्यातव्य थे, उतने

ही वर्तमान समय में। महर्षि ने बालकों को आचार्य कुल में जाने से पहले का कर्त्तव्य बताते हुये लिखा है—

"प्रथम लड़कों (सन्तान-अर्थात् लड़का-लड़की दोनों) का **यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्यकुल में हो।"**

"[जब] आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की शाला में भेज देवें।"

सत्यार्थ० तृ० पृ० ३७, ३६॥

महर्षि ने इन वचनों से सर्वप्रथम यह निर्देश दिया कि शिक्षणालय में जाने से पूर्व यज्ञोपवीत होना परम आवश्यक है क्योंकि यह संस्कार जहाँ शिक्षाधिकारित्व का संकेतक है वहीं व्रतसूत्र भी है, जो हमें सर्वदा तत्परायण, कर्त्तव्यनिष्ठ बनने की प्रेरणा देता रहता है।

दूसरा निर्देश देते हुये लिखा—

"जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा नौकर-चाकर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें।"

सत्यार्थ० तृ० पृ० ३६॥

अर्थात् बालिकाओं की शिक्षिकायें स्त्रियाँ तथा बालकों के पुरुष शिक्षक होने चाहिये।

तीसरा निर्देश देते हुये लिखा—

"स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें।" महर्षि के कथनानुसार शिक्षा काल में बालक-बालिकाओं का किसी भी प्रकार का मेल नहीं होना चाहिये।

चौथा निर्देश दिया—

"उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें। जब भ्रमण करने को जावें, तब उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य-प्रमाद करें।" यह लिखकर महर्षि ने स्पष्ट किया है कि शिक्षार्थियों को मोह-माया से दूर रहना चाहिये तथा गुरुजनों से छिपकर कुछ कार्य भी न करना चाहिये।

महर्षि ने निर्देश तो बहुत सारे दिये हैं जो वहीं द्रष्टव्य हैं, पर उपर्युक्त निर्देश बहुत ही गहरे एवं मनुष्यपन की नींव हैं। वे स्वयं लिखते हैं—**"जिससे** (उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से) **उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बल युक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।"**

सत्यार्थ० तृ० पृ० ३७॥

चारित्रिक निर्देशों के साथ-साथ महर्षि की पाठ-विधि का निर्देश भी अत्यन्त दूरदर्शितापूर्ण है और गम्भीर है, क्योंकि महर्षि से पूर्व शिक्षा का प्रचलन तो था, पर उसका सुबद्ध पाठ्यक्रम नहीं था। **महर्षि की ही यह सूझ थी कि उन्होंने सुसम्बद्ध पाठ्यक्रम रखा जो शिक्षा से लेकर सम्पूर्ण चौदह विद्याओं पर्यन्त विद्याध्ययन का पाठ्यक्रम पूर्ण विद्वान् एवं सर्वाङ्गीण विकास करने वाला बहुत सुन्दर पाठ्यक्रम है।** सचमुच महर्षि के अनुसार यदि हम पढ़ें तो हमारे पास विद्या के साथ-साथ धन की भी न्यूनता नहीं होगी। वह पाठ्यक्रम विस्तार भिया शब्दशः देना कठिन है। व्याकरणादि षडङ्ग पढ़ने के अनन्तर ऋषि ने **"मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति, षड्दर्शन, ईशादि ११ उपनिषदें, ब्राह्मण ग्रन्थ, चारों वेद, उपवेद, आयुर्वेद = वैद्यक शास्त्र, धनुर्वेद = शस्त्रविद्या, गन्धर्व वेद = गानविद्या, स्वर, राग-रागिणी, अर्थवेद =**

शिल्प विद्या ततः ज्योतिष शास्त्र, सूर्य सिद्धान्त, बीजगणित, अंकगणित आदि, भूगोल = भूगर्भ विद्या हैं उसको यथावत् सीखें,'' ऐसा लिखा है, पर आज शिक्षा विषय में जो कबाड़ा निकाला जा रहा है वह किसी से छिपा नहीं है, कोई भी महर्षि के अनुसार पठन-पाठन नहीं कर रहा। स्कूल कालेजों के सदृश नवीं, दसवीं आदि कक्षा के पाठ्यक्रम चल रहे हैं, जहाँ न संस्कृत का नाम है, न आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन है, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कहीं अंग्रेजी, कहीं संगीत, कहीं विज्ञान, कहीं कम्प्यूटर आदि का प्राबल्य विद्यालयों में हो रहा है। बालक-बालिकायें मनुष्य बनें, इस ओर किसी का चिन्तन नहीं है। साक्षर होकर वे धनार्जन कर सकें, अपनी सुख-सुविधायें जुटा सकें, बस इसी की दौड़ में लगे हुये हैं। सिद्धान्त निष्ठा का तो कहीं लवलेश ही नहीं है।

महर्षि ने आर्यसमाज की स्थापना करके उसका उद्देश्य आर्ष शिक्षा का प्रचार-प्रसार रखा था क्योंकि वे जानते थे, जब तक ऋषिप्रणीत सुव्यवस्थित शिक्षा का पठन-पाठन नहीं होगा, तब तक राष्ट्र का कल्याण होना असम्भव है।

वर्तमान समय में आर्य समाज की स्थापना हुये १२५ वर्ष पूर्ण हो रहे हैं, देखना यह है कि हमने महर्षि के शिक्षा विषयक निर्देशों का कहाँ तक पालन किया है। आज आर्यसमाजें संसार को नया सुपथ दिखाने के लिये उद्यत हैं। समाजों के मन्त्री-प्रधान चाहते हैं—ईसाइयत को बढ़ावा न मिले, मुसलमानों के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार न होवे, पौराणिक, जैन, बौद्ध आदि मत-मतान्तर समाज में प्रभावी न होवें, इसके लिये प्रायः प्रत्येक समाजों में विद्यालय खोलने का दौर चल रहा है। ठीक है, विद्यालय खोलने चाहियें, अच्छी बात है, पर इन विद्यालयों का उद्देश्य क्या है? क्या मात्र यह कि वे पढ़ने वाले बच्चे ईसामसीह की ताबीज से बचे रहेंगे, मुसलमानों की बांग से बचे रहेंगे, घण्टा-घड़ियालों से नफ़रत करेंगे। सन्ध्या हवन का नाम जान जायेंगे, महर्षि दयानन्द की जय, आर्य-समाज अमर रहे, ओ३म् का झण्डा ऊँचा रहे आदि नारे लगा लेंगे।

सम्प्रति आर्यसमाज द्वारा संचालित दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, दयानन्द शिशु मन्दिर, दयानन्द पब्लिक स्कूल आदि बहुत से दयानन्द नामधारी

विद्यालय हैं। वहाँ के शिक्षक शिक्षिकायें मात्र दयानन्द का नाम जानते हैं, वे दयानन्द और विवेकानन्द में भेद नहीं कर सकते, वे न दयानन्द की पुस्तकों से परिचित हैं, न दयानन्द की विशेषताओं से। ऐसे शिक्षक-शिक्षिकायें जो दयानन्द विद्यालयों में शिक्षा दे रहे हैं, वे बच्चों को क्या बतायेंगे कि दयानन्द की क्या विशेषतायें हैं? दयानन्द की शिक्षा का क्या महत्त्व है? मात्र अन्य विद्यालयों में और आर्यसमाज के विद्यालयों में दीवार और नाम का ही भेद हुआ, मात्र स्कूल भेद हुआ। अन्यों के सदृश हमारे विद्यालय भी धन उगाही के साधन बने हुये हैं, मनुष्य बनाने के केन्द्र नहीं, तो सिद्धान्तनिष्ठ, कर्त्तव्यनिष्ठ, ज्ञानवान्, चरित्रवान्, देशभक्त, वेदभक्त, सत्यपालक, प्रभु उपासक, जितेन्द्रिय व्यक्ति कैसे तैयार होंगे? महर्षि दयानन्द ने शिक्षा का उद्देश्य निम्न शब्दों में बताया है—

"जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको 'शिक्षा' कहते हैं।"

स्वमन्तव्या० प्र० २२॥

ये उद्देश्य कैसे पूरे होंगे?

आर्यो! हमें सावधान होने की आवश्यकता है। यदि हम सचमुच दयानन्द के अनुयायी हैं, वैदिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार चाहते हैं तो हमें विद्यालयों में महर्षि की शिक्षा रीति-नीति का अनुपालन करना परम आवश्यक होगा। जिन विद्यालयों को आज हम चला रहे हैं वे सहशिक्षा से परिपूर्ण हैं, बड़े धड़ल्ले से बालक-बालिकाओं को एक साथ पढ़ाया जा रहा है या समय विभाग से उसी स्कूल में दोनों को पढ़ाया जा रहा है जो दुराचार, दुर्गुण, दुर्व्यसन आदि के जनक हैं, अतः हमें इन विद्यालयों से बालक-बालिकाओं का सह अध्यापन दूर करना चाहिये, जैसा कि महर्षि ने लिखा है—**"लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक-दूसरे से दूर होनी चाहिये।"**

सत्यार्थ० तृ० पृ० ३६॥

दूसरी बात आर्यसमाज के विद्यालयों में पढ़ने वाले बालक-बालिकाओं का **महर्षि दयानन्द के अनुसार सर्वप्रथम यज्ञोपवीत संस्कार अवश्य**

होना चाहिये, जिससे विद्यार्थी सर्वदा सचेत रहें, हमें ऋणों से उर्ऋण होना है, इसके लिये सचेष्ट रहें, कर्त्तव्यनिष्ठ बनने के लिये उद्यत रहें। इसी प्रकार महर्षि की व्यवहार- भानु, आर्योद्देश्यरत्नमाला, आत्मरचित जीवन-चरित्र, सत्यार्थप्रकाश जैसी पुस्तकों का पठन-पाठन अनिवार्य होना चाहिये। मुझे ऐसे विद्यालयों में कई बार जाने का अवसर मिला है, जहाँ के अध्यापक-अध्यापिकायें इन ग्रन्थों का नाम तक नहीं जानते, विषय वस्तु की तो बात ही और है।

आर्यसमाज यदि अपना प्रचार-प्रसार अच्छा चाहता है, तो गुरुकुलों में पढ़े लिखे अध्यापक-अध्यापिकाओं को अपने विद्यालय में रखना चाहिये और उनका मान वैसा ही होना चाहिये जैसा कि राजकीय प्रोफेसरों, रीडरों का होता है तथा वे शिक्षक भी आर्ष पाठविधि की निष्ठा वाले होने चाहियें। दुःख तो इस बात का भी है कि आज हमारे गुरुकुलों में पढ़े हुये एम.फिल., पी-एच.डी.प्राप्त स्नातक भी आर्षत्व से बहुत दूर हैं। वे कालिदास आदि कवियों में और जैमिनि आदि ऋषियों में भेद ही नहीं कर पाते, कि कौन ऋषि है, कौन अनृषि!

अभी पिछले दिनों गुरुकुल कांगड़ी से वेदालङ्कार उपाधि प्राप्त दिल्ली निवासी **विद्वान् डा. देव शर्मा** बनारस आये हुये थे, वे बड़े गौरव से एक चर्चा के मध्य **शाकुन्तल का श्लोक बोलते हुये** कहने लगे—**"मैं तो कालिदास को ऋषि मानता हूँ।"** आश्चर्य है गुरुकुल में पढ़ने वाले व्यक्ति को यही परिज्ञान नहीं, कि ऋषि कौन होता है? गुरुकुल का विद्यार्थी जिसने निरुक्त पढ़ा है, वह नहीं जानता? कि वहाँ यास्क महर्षि ने लिखा है— **'ऋषिर्दर्शनात्'** निरु. २।३।११, मन्त्र दर्शन करने वाले को ऋषि कहते हैं। ऋषि की पहचान अन्य ग्रन्थों में भी बतायी है **"ऋषिर्मन्त्रदृशं वेदपितरं मन्यते यतः"**, बृहद्देवता ५।५८। वेद रक्षक, वेद द्रष्टा को ऋषि कहते हैं। **'न मन्त्रदर्शनात् पूर्वम् ऋषित्वं प्रत्यपद्यत,'** ऋग्वेदानु० ५।७।३, मन्त्र दर्शन से पूर्व ऋषित्व प्राप्त नहीं होता है। यह एक प्रायः गुरुकुलों में कौन सा धन्धा आज हो रहा है, वे कैसा निर्माण कर रहे हैं इसका बढ़िया उदाहरण है। ये हाल दयानन्द और श्रद्धानन्द के नारे लगाने वालों के हैं।

अत: आर्यबन्धुओ! आज हमें सचेत होने की आवश्यकता है। हम सचेत हों, **सहशिक्षा के सामञ्जस्य से अपने नायक को ही न भूल जावें, उसके मन्तव्य पर ही पर्दा न डाल देवें।** इस सामञ्जस्य के चलते आज आर्यसमाज में चारित्रिक दोष बढ़ रहा है, चरित्र विषयक जो हमारी खूबी थी, वह मिट रही है, यह सब आर्षशिक्षा के अभाव के कारण है। बहुश: आज हमारे प्रचारक भी आर्ष पद्धति से पढ़े हुये नहीं हैं, अस्तु! हमारा चिन्तन हमारे कार्य वही हों, जो दयानन्द चाहते थे। हम अपना प्रचार, अपनी प्रतिष्ठा, अपने स्वार्थ के दायरों से उठें। विद्यालयों से सह शिक्षा को तत्काल बन्द करें, आर्षशिक्षा की अनिवार्यता रखें। महर्षि की पुस्तकों को पठन-पाठन में जोड़ें, चरित्रवान् बनें। अपने स्वार्थों का परित्याग कर महर्षि की दूरदर्शिता का, उनके त्याग, बलिदान का स्मरण रखें। हमारे स्वार्थ कहाँ तक पहुँच चुके हैं, इसका नमूना देखें—

महाकुम्भ के अवसर पर ७ फरवरी २००१ को **श्री स्वामी अग्निवेश जी प्रो. कैलाशनाथ सिंह जी प्रधान** पधारे, उस समय आर्य उप प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश ने धर्माचार्य सम्मेलन के जो पोस्टर छापे, उसमें न **"ओ३म्" का नाम"** न **"दयानन्द" का नाम, न आर्य समाज का नाम,** अपनी कीर्त्ति, अपना यश, अपनी प्रतिष्ठा के आगे किसी का ध्यान ही नहीं गया, कि हम क्या छाप रहे हैं। मजे की बात तो यह कि कुम्भ की समाप्ति पर अपनी कीर्त्ति की पताका फहराने पहुँचे, इसमें दोष मात्र अपने स्वार्थ का ही है। स्वार्थ के पर लम्बे हैं, हम उसे आर्यसमाज की स्थापना के १२५ वर्ष की पूर्णता पर पहचानें और उसका त्याग करके समाज को नया सुपथ दिखायें तभी महर्षि का कार्य पूरा कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

हम भूल में न रहें, **महर्षि हमारे आचार-विचार, चरित्र, कार्य, शिक्षा सब देख रहे हैं।** कभी उन्होंने असत्य ग्रन्थों को गङ्गा में प्रवाहित किया था, आज हमारी बारी है। **यदि हम न चेते तो उनकी मूक आत्मा का अभिशाप हमें छोड़ेगा नहीं, निमज्जन अवश्यंभावी है, सावधान!**

५१वाँ गणतन्त्र

सहस्त्राब्दि की तिलाञ्जलि ही शहीदों की श्रद्धाञ्जलि

भारत का ५१वाँ गणतन्त्र हम भारतीयों के समक्ष ५१वर्ष पीछे के सुदीर्घ गुलामी के इतिहास की आहों का गवाह है।

स्वराज्य का संघर्ष अनगिनत ज्ञात-अज्ञात अनेक वीरवरों ने अपने प्राणों की आहुति देकर किया। स्वराज्य के चिन्तकों, साधकों ने विदेशी हुकूमत के दण्ड, मुकदमे, जेलों की यातनायें सहीं। हमारे भारतीयों का यह सब कुछ करने का तात्पर्य था, सृष्टि के प्रारम्भ काल से चले आ रहे ऋषि मुनियों के कृत्यों का संवर्धन; वेद प्रतिपादित सन्ध्योपासना, यज्ञ यागादि का आचरण, अपने देश के साहित्य का पठन-पाठन, धन का समान बँटवारा, साम्प्रदायिकता, नौकरशाही का विनाश, देश की आर्थिक नीति का स्वदेशीकरण करना, आदि आदि।

ईसाई सन् विदेशी—

विदेशी शासन ने भारतीय जनमानस को जहाँ अपने कुचक्रों से, यातनाओं से कुचला था, निष्प्राण किया था, वहीं सुविधा सम्पन्नता से लुभाया था। हमारी मानसिक और आत्मिक शक्ति के वर्धक वैदिक साहित्य को रौंद-फूँक कर भौतिक शक्ति को बढ़ाने वाला साहित्य प्रदान किया। फीताशाही को जन्म दिया, धन-वैभव लूटकर दरिद्र बनाया, हमारी वैचारिक शक्ति का लोप किया, वेशभूषा-भाषा को बदला, हमारी आस्तिकता के ज्ञापक, वीरता के स्मारक तिथि का द्योतन कराने वाले जो पञ्चाङ्ग थे, उनकी जगह ईसामसीह के जन्म पर आधारित ईसाई कैलेण्डर को चलाया, जिसका निर्माण ''**बिशप डायोनिसस एक्सिगस**'' ने ५२५ वीं इस्वी में किया था। गुलामी के दिनों में विदेशी कैलेण्डर का भरपूर उपयोग हर कार्य की स्मृति के लिये किया गया, जिसको भारतीयों ने जैसे अन्य यातनायें

सहीं. वैसे ही अपने विक्रमी संवत् के पञ्चाङ्ग को त्यागकर विदेशी कैलेण्डर को भी अपनाया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् बहुत सी गुलामियों की निशानदेही बनी हुई हैं, उनमें ईसामसीह के ५२५ वर्षों पश्चात् बने कैलेण्डर का उपयोग भी है।

स्वतन्त्रता संग्राम क्यों?

अब हम खुले मस्तिष्क से विचार करें, आखिर स्वतन्त्रता का युद्ध हमनें क्यों लड़ा? अपने भाइयों की कलाइयों का अभाव क्यों सहा? उनका बिछोह क्यों अङ्गीकार किया? बहिनों ने अपनी सूनी माँगों का क्यों वरण किया? माताओं ने अपने लाल क्यों खोये?

उत्तर स्पष्ट है, हमने स्वतन्त्रता का युद्ध इसलिये छेड़ा था कि विदेशी मूल के जन मांस भक्षी हैं, मद्य सेवी हैं, उनकी वेशभूषा शर्ट, पैन्ट, टाई है, उनकी शिक्षा-दीक्षा में सर्वत्र घट-घट व्यापी परमात्मा की सत्ता का अभाव है, उनका ज्ञान अध्यात्म से शून्य हैं एवं भौतिक वस्तुओं का विस्तारक है, उनकी शिक्षा मात्र अर्थ प्रधान है विराम रहित दौड़ ही दौड़ है, उनका शासन भारतीयों के लिये हिंसक है, भाई-भाई का भक्षक है, स्वार्थजनक है, राष्ट्रद्रोही है, गार्हस्थ जीवन बड़ा नग्न है, वृद्धों की सेवा का अभाव है, उनकी चिकित्सा पद्धति रोगशामक नहीं, रोगों की शृंखलावर्द्धक है। विदेशी शासक अपनी इन सभी विशेषताओं को, शिक्षाओं को, मानसिकताओं को, हमारे ऊपर साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों से थोपते जा रहे थे, हमें विवश किया जा रहा था स्वीकार करने के लिये। इस विदेशी हुकूमत को मनवाने का साधन अंग्रेजी भाषा थी और यातनायें थीं। भारतीय जन-मानस तड़प उठा और आन्दोलन जागृत हुआ। चर्बी युक्त कारतूसों ने विस्फोट किया, विस्फोट के बड़े धमाके ने भारत की शक्ति को द्विगुणित कर दिया और अंग्रेजी हुकूमत का नामों निशान मिटाने के लिये अपने प्राणों को वीरों ने विदेशी वडवानल में झोंक दिया।

स्वतन्त्र भारत का स्वप्न—

अपने प्राणों की आहुति को देने वालों का सपना था कि स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारी भाषा संस्कृत और हिन्दी होगी, अन्तरराष्ट्रीय व्यवहार साधन

हेतु ही अंग्रेजी भाषा अपेक्षित होगी, न कि वह जीवन का अङ्ग बनेगी, हमारे वस्त्र धोती कुर्त्ता होंगे, हमारा खान-पान, घृत, दुग्ध, फल, शाक, अन्न होंगे, गाय, भैंस, बकरी आदि पशुओं का पालन होगा, हमारा उद्योग स्वदेशी होगा, हस्तकला का स्वागत होगा, रोगों की दवा औषधि, वनस्पतियाँ होंगी, हमारी शिक्षा-दीक्षा का साधन वेद-वेदाङ्ग तथा राम, कृष्ण, दयानन्द, श्रद्धानन्द, विवेकानन्द आदि महापुरुषों के चरित्र का इतिहास होगा, हमारे शासक भारतीय संस्कृति-सभ्यता से ओत-प्रोत होंगे, **अपने देश का नाम आर्यावर्त्त या भारत होगा, हम आर्यावर्त्तीय या भारतीय कहलायेंगे, इण्डिया, इण्डियन शब्दों को अग्नि में झोंक दिया जायेगा।** हमारा पञ्चाङ्ग = कालगणक सृष्टिकाल का द्योतक तथा अपने महापुरुषों के विजय स्मारक पर आधारित होगा आदि-आदि, कल्पनायें की थीं।

विदेशी सभ्यता हावी—

साश्रु कहना पड़ता है, आज देश में हम सब कुछ विदेशी सभ्यता को अपनाने में तुले हैं, भाई-भाई को मार रहा है, राष्ट्रद्रोह पनपता जा रहा है, विदेशी हुकूमत की हिंसा का जाल बिछा हुआ है, प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को भूल चुका है, राष्ट्रभक्ति राष्ट्रीयता को तिलाञ्जलि दे चुका है, न्यायालय अन्याय के गढ़ बने हुये हैं, न्यायाधीश पैसों पर बिके हुये हैं। हमारे शासन ने तो और भी विशिष्ट कमाल कर दिखाया, इस वर्ष के सत्र से प्रत्येक स्कूल में प्रथम कक्षा से अंग्रेजी शिक्षा को अनिवार्यता प्रदान करके। भेद मात्र इतना है कि हमारा शासक स्वदेशी मूल का है। हमारे देश के नेता इस बात का तो संघर्ष कर रहे हैं कि विदेशी मूल का व्यक्ति शासक न बन पावे, पर इस ओर यत्किञ्चित् भी खबर नहीं है कि भारत पर विदेशी मूल की सभ्यतायें लदी हुई हैं और लदती जा रही हैं। उन्हीं बोझों में सहस्राब्दि के बोझ ने भी हमें खूब दबाया और दबा रहा है, इस दबाव से हम जरा भी चेष्टा कर न सके, आत्मतेज न भर सके, आह केवल इतनी निकली, इसका स्वागत करो, स्वागत करो। परिणाम हुआ, १ जनवरी सन् २००० के आगमन के लिये महीनों, वर्षों पूर्व से

शासन से लेकर जनता तक बेताब थीं और सहस्राब्दि के उस दिन को देखने के लिये लालायित थीं। भारतीय प्रचार माध्यम दूरदर्शन, आकाशवाणी, समाचार पत्र रंग दिये गये सहस्राब्दि के स्वागत के लिये। कभी सोचा? यह सहस्राब्दि किसकी है? क्या उसी विदेशी हुकूमत के ईसाइयत के मूल व्यक्ति की प्रतीक नहीं है?

ब्राह्मणों के अपकर्म—

आश्चर्य तो इस बात का है जो विश्व में सवर्ण कहे जाते हैं, बड़े शुद्ध, पवित्र माने जाते हैं, जिन्हें **'ब्राह्मण'** इस शब्द से विभूषित किया जाता है, जो विदेशी मूल के लोगों से बातचीत करने में कतराते थें, विदेश में जाना-आना तो सोच भी नहीं सकते थे, उनके स्पर्श की कथा ही क्या थी? जिन्होंने विश्वनाथ मन्दिर के द्वार पर **"आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः"** लिखकर ईसाइयत में डूबे लोगों से बचने का सन्देश दिया है। जिनकी पीढ़ी दर पीढ़ी विवाह आदि शुभ कृत्यों में संकल्प के समय **वेद तथा सृष्टि संवत् १,९७,२९,४९,१००** (एक अरब, सत्तानवे करोड़, उन्तीस लाख, उन्चास हजार, एक सौ) एवं **महाराजा विक्रमादित्य के विजय स्मारक विक्रमी संवत् २०५६ (दो हजार छप्पन), कलि संवत् ५१०१** (पाँच हजार एक सौ एक) आदि स्वदेशी तिथियों के स्मारक, इतिहास के ज्ञापक संवतों को उचारते जिह्वा न थकी, न थकेगी, वे ही पण्डित व उन्हीं पण्डितों के सिरमौर धर्माचार्य **'शंकराचार्य माधवानन्द सरस्वती'** ने ९ नवम्बर १९९९ में नयी दिल्ली में अन्तरधार्मिक नेताओं के सम्मेलन में सहस्राब्दि का प्रचार करने आये **पोप जान पाल द्वितीय से** नेताओं की अदा में जो हाथ मिलाया, हमने समाचार पत्रों में उसका जो चित्र देखा वह स्पष्ट प्रमाणित कर रहा था कि हम पूर्णतः ईसाई हैं, हमारे प्राण ईसाइयत की साँस ले रहे हैं। और १ जनवरी सन् २००० की प्रातः तथाकथित पण्डितों ने जो भारत की विचार शक्ति हैं, उन्होंने उदकपूर्ण कलशों से उस प्रातः का अभिषेक कर, दीप जलाकर सहस्राब्दि का स्वागत किया, ऐसा करके पण्डितों ने बढ़िया प्रशस्ति पत्र दिया, कि हम आमूल चूल ईसाई हो चुके हैं।

विक्रम की सहस्राब्दि—

१ जनवरी सन् २००० को सहस्राब्दि के स्वागत को देखकर कुछ एक आत्मायें स्वतन्त्रता से पूर्व की कल्पनाओं को सोचकर रुदन कर उठीं और अपने उन आँसुओं से समाचार पत्रों के माध्यम से, निष्ठुरों को भिगोना चाहा। किसी ने सहस्राब्दि की गणना गलत है, किसी ने हमारी सहस्राब्दि तो आज से ५६ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी, जिसका सम्प्रति २०५६वाँ वर्ष चल रहा है, चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को २०५७ में प्रवेश करेगी, आदि लिखकर अपने हृदय के संवेगों, संवेदनाओं से अभिभूत करना चाहा, लेकिन हम अभिभूत या भीगने वाले कहाँ हैं? आज प्लास्टिक का युग है, प्लास्टिक पहन और खा रहे हैं। हमारा हृदय उन बूँदों से गलने वाला नहीं है, वे बूंदे हमसे ढरककर भूमि में समाहित हो जायेंगी, जहाँ मेरे देश के अनगिनत वीरवरों के रक्त, मांस, हाड़ समाहित हैं, **लेकिन याद रखें! ईसाइयत को अपनाने वाले भी बचेंगे नहीं, अपना अस्तित्व ईसाइयत में खो बैठेंगे।**

सांस्कृतिक स्वतन्त्रता चाहिये—

आज हम स्वतन्त्र हैं लेकिन हम स्वतन्त्रता की तिथियों को भी १५ अगस्त, २६ जनवरी इस प्रकार ईसाइयत से लदी हुई तिथियों को जानते हैं, जनाते हैं। अपने भारतीय पञ्चाङ्ग की तिथियों के अनुसार स्वतन्त्रता दिवसों को आबाल वृद्ध नहीं जानते, जब जानते ही नहीं तो प्रचार किस चीज का होगा। आवश्कता है हम विचार करें कि ईसाइयत नासूर की तरह कहाँ तक फैली हुई है? क्या विद्या टाई पहन करके ही आ सकती है? जो ईसा को सलीब पर टाँगने **(फाँसी देने) की प्रतीक है।** वह टाई न तो पुस्तक और न लेखनी जैसे साधनों का पर्याय है, और न ही शरीर ढकने का साधन है। आखिर क्यों अपनाये हुये हैं? क्यों हमारे बच्चे पहनने के लिये बाध्य हैं? इसी प्रकार इण्डिया, इण्डियन शब्द जो अमरीकी आदिवासी के वाचक हैं उनका व्यवहार कर रहे हैं, आदि-आदि शोचनीय, विचारणीय बाते हैं, मात्र सहस्राब्दि पर ही रोना नहीं है। सहस्राब्दि का स्वागत करने वाले बतायें, कि उन्होंने इसका स्वागत्त क्यों किया? क्या

इसलिये? कि इस काल में मेरा देश खण्ड-खण्ड हो गया, भारत भूमि अदिति की जगह दिति बन गयी, आतंकवाद की लपटों में देश लिपट गया, जिससे हम प्रसन्न हैं? आखिर क्या विशेषता हुई? दिन-रात, चाँद-सूरज तो वही थे, जो नित होते हैं, पुनः किस बात के हर्ष ने हमें ऐसा करने को प्रेरित किया? ईस्वी सन् को क्यों मान्यता दी और दे रहे हैं?

अपनी सहस्राब्दि अपनायें—

सहस्राब्दि का स्वागत करने वाले बतायें, हमें २०५६ (बीस सौ की जगह दो हजार छप्पन) लिखने बोलने में कौन सी मुसीबत है जो नहीं लिखा जा सकता या व्यवहार नहीं किया जा सकता। महीनों के दिन तिथियों, पक्षों के अनुसार लिखने- बोलने में क्या कठिनाई है। मात्र हमारे सोच का अभाव ही तो कारण है। **हमारा विक्रमी संवत् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को प्रारम्भ होता है, वही हमारे सृष्टि का अर्थात् नववर्ष का काल है, धरती पर सूरज की पहली किरण आज ही पड़ी थी।** हम भारतीयों को यह युगादि पर्व सहर्ष, सोल्लास मनाना चाहिये। पर हम इसे क्यों याद रखेंगे? क्योंकि यह तो विदेशी दासता का सूचक है नहीं?

आइये! सम्भव हो तो आँखें खोलें! ५१वें गणतन्त्र दिवस पर सहस्राब्दि वर्ष को तिलाञ्जलि देकर **वीरता के प्रतीक महाराजा विक्रमादित्य के विक्रमी संवत् को अपनाने का व्रत लेकर अपने वीरवरों को सच्ची श्रद्धाञ्जलि देने के अधिकारी बनें।**

नेताओं के नाम सन्देश

आज सम्पूर्ण विश्व में इस्लामी आतंकवाद की ज़ेहादी (ख़ूनी कार्यवाही की) हवायें मानवीयता के साथ जो खिलवाड़ कर रही हैं, यह किसी से छुपा नहीं है। स्थिति यह है कि विश्वव्यापी इस्लामी आतंकवाद इस्लाम मत का पर्याय बन चुका है। आतंकवाद की इस समस्या से निबटने के लिये देश के सजग प्रहरी **श्री के.आर.नारायणन** (भूतपूर्व राष्ट्रपति), **स्वामी श्री अग्निवेश जी** (आर्यसमाज के मूर्धन्य संन्यासी), **श्री शंकराचार्य स्वामी माधवाश्रम जी महाराज** आदि बुद्धिजीवी महानुभावों ने "**मिल के चलो**" अभियान २७ सितम्बर से २ अक्तूबर तक अयोध्या से राजघाट तक चलाने का संकल्प किया, वह उत्तम है।

यह रैली अभियान अयोध्या से प्रारम्भ होकर फैजाबाद, लखनऊ, सीतापुर, शाहजहाँपुर, फरीदपुर होता हुआ २९ सितम्बर २००२ को **बरेली भी** पहुँचा। इस रैली में सभी मतावलम्बी यानी ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, पौराणिक, सिक्ख एवं आर्यसमाज आदि संगठनों के राष्ट्रचिन्तकों ने भाग लिया। ऐसी रैलियाँ राष्ट्र के नागरिकों को जहाँ सजग, जागरूक देशभक्त बनने के लिये प्रेरित करती हैं, वहीं परस्पर के राग-द्वेष, हिंसा के भाव मिटाने में सहायक बनती हैं, ऐसा रैली करने वाले तथा रैली देखने वाले दोनों ही जानते-मानते हैं, जो राष्ट्र के हित में सर्वथा उचित है।

पर थोड़ा रैली के नेतृगणों को एवं संबोधन कर्त्ताओं को विचारना होगा, कि हमारा चिन्तन, हमारा सन्देश कैसा हो? वर्त्तमान समय में देश की विषम परिस्थितियों को देखते हुये सरकार या पार्टियों को कोसने या ग़िराने से काम नहीं चलेगा, या रैली में कदम से कदम मिला करके एक साथ बढ़ने से आतंकवाद दूर नहीं होगा। अपितु रैली में विचार तो "**मनुर्भव**" ऋ.१०।५३।६॥ का करना है, यानी सबको मनुष्य बनना है और बनाना है, मनुष्यपन का भाव जगाना है।

मनुष्य वह होता है जो "**मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति**" निरु. ३।२।७॥ अर्थात् जो मनन पूर्वक कार्य करते हैं वे मनुष्य कहलाते हैं। कर्म करने से पूर्व देश के सभी नेता व नागरिक भली प्रकार विचार करें कि मेरे इस कर्म से फल क्या होगा? इसका क्या-क्या प्रभाव होगा? यानी विश्व के सभी प्राणियों के प्रति रक्षा का भाव रखना एवं हिंसा, अत्याचार के भाव हटाना ही मनुष्य बनना है, अतः प्रत्येक नेता के लिये बहुत आवश्यक है कि एक नेता दूसरे नेता की टांग न घसीटें, थोड़ा कहने से पहले सोचें, क्या राम मन्दिर बनने न बनने का किसी भी पार्टी पर आरोप लगाकर आतंकवाद को दूर किया जा सकता है? अथवा क्या अन्य मिसाइल परीक्षण जैसी राष्ट्रहित की अन्दरूनी बातों को उछालकर आतंकवाद हटाया जा सकता है? यदि गहराई से सोचेंगे तो ज्ञात होगा कि "**हमारे ये आरोप, हम बिखरे हुये हैं, इसके परिचायक हैं**" और जब ये परिचय तीसरे को ज्ञात होते हैं, तब तीसरा अवश्य फायदा उठाता है। फायदा उठाने का साधन आतंकवाद, व्यापारवाद या सेवावाद कुछ भी हो सकता है। क्या जितने भी ईसाई, मुसलमान आदि मत-मतान्तर हैं वे नहीं जानते? यां विभिन्न पार्टियों वाले हिन्दू कहे जाने वाले भारतीय नहीं जानते? कि यहं भारतभूमि राम और कृष्ण की भूमि है, अत· भारतभूमि में राम और कृष्ण के प्रेरक स्थान होने पहले आवश्यक हैं।

क्या "**सोमनाथ मन्दिर**" जिसको मुस्लिम मतावलम्बियों ने तोड़-फोड़ कर इस्लाम का रंग चढ़ा दिया था, उसे पुनः जब स्वतन्त्र भारत में लौहपुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल ने उसका भारतीयकरण किया, तब क्यों नहीं इस्लामी आतंकवाद ने घेरा था? स्पष्ट है आज आतंकवाद की जो भी परिस्थिति है, वह मात्र कुर्सी की लालच ही है, पार्टियों की खेंचातानी है, अतः नेताओं को ध्यान रखना चाहिये कि उनके अपने सम्बोधन, अपने भाषण **मनुर्भव** के हों, जनहित के हों, कांग्रेस, भाजपा, मुस्लिम लीग, सपा आदि पार्टियों के निमित्तक न हों। २९।९।०२ को बरेली की रैली में जहाँ मैं भी उपस्थित थी, (**मैं आर्यसमाज बिहारीपुर बरेली के २३-२९ तक होने वाले वेद प्रचार सप्ताह में प्रवचनार्थ सम्मिलित थी।**) वहाँ वरिष्ठ नेता संदीप पाण्डेय ने जनसमुदाय को जो सन्देश दिया, उससे स्पष्ट जाहिर था, कि उनका सन्देश सब एक हों की

अपेक्षा जनसमुदाय कांग्रेस पार्टी का समर्थक हो, इसका द्योतक था, जो आतङ्कवाद से जूझने के स्थान पर बिलगाववाद का संदेश था। हमें स्मरण रहे कि जितनी प्रत्येक पार्टी के लिए सुरक्षा दस्ता की आवश्यकता है, उतनी ही राष्ट्रवासियों की सुरक्षा के लिए मिसाइल आदि शस्त्रों का होना आवश्यक है, यह आरोप का विषय नहीं है। क्या पार्टी बदलने से आतंकवाद हट जायेगा? कभी नहीं।

आतंकवाद से निबटने का मनुष्य बनना ही उत्तम तरीका है। ईसाई, बौद्ध, मुसलमान या किसी दूसरे सम्प्रदाय के समर्थक बनने से नहीं, क्योंकि ईसाई बनने से केवल ईसाइयों का हमदर्द बनेगा, मुसलमान बनने से मोमिनों का, बौद्ध बनने से बौद्धों का, पर मनुष्य बनने से वसुधा भर के छोटे-बड़े सभी लोगों का हितैषी बनेगा। **मनुष्य का ही पर्यायवाची आर्य है। अर्य ईश्वर को कहते हैं और आर्य ईश्वर के पुत्रों को, जो हिंसा राग, द्वेष से रहित हैं उन्हें कहा जाता है,** अर्थात् सम्पूर्ण विश्व ही आर्य है, **तात्पर्य हुआ सम्पूर्ण विश्व के लोग आर्य बनेंगे, मनुष्य बनेंगे तभी आतङ्कवाद से निबटा जा सकता है,** इसे रैली के लोगों को अथवा अन्यत्र कार्य करने वाले नेताओं को भली भाँति समझना होगा।

आर्य नेताओं को थोड़ा यह भी विचार करना होगा कि रैली के पोस्टर ओ३म् ध्वज के सिम्बल से तथा दयानन्द और श्रद्धानन्द के नाम व चित्रों से अछूते न रहें, जिससे कि हम सही दिशा पर चलते रहें, भटकें नहीं, अन्यथा **'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का'** यह स्थिति बन जायेगी। मिल के चलो अभियान के पोस्टर में बने नक्शे में मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, कांग्रेस, हिन्दू इन सबके प्रतीक थे और आर्य समाज की गन्ध तक न थी। आर्य नेता अपनी कार्य प्रणाली को सोचें।

हा दैव!!!

नैकेनापि समं गता वसुमती आतङ्किभिः यास्यति।।

राष्ट्रीयता की पहिचान

प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र की राष्ट्रीयता का परिज्ञान उसकी संस्कृति से होता है, क्योंकि संस्कृति ही सही माने में राष्ट्रीयता की जनक एवं आधारशिला हुआ करती है। हमारी वेदानुमोदित भारतीय संस्कृति की अपनी अलग ही विशेषता रही है, धार्मिकता, नैतिकता और राष्ट्रनिष्ठा के साथ-साथ वह हमें अपरिग्रह का पाठ पदे-पदे सिखाती है, जो राष्ट्र को उज्ज्वल तथा सुदृढ़ बनाने में सहायक ही नहीं अत्यावश्यक है। **अर्थ लिप्सा से परे रहकर जीवन बिताना ही सच्ची राष्ट्रीयता कहाती है "मा गृधः कस्य स्विद्धनम्"** यजु० ४०।१, यह वेदाज्ञा है अर्थात् हम किसी के धन की अभीप्सा न करें, किसी के स्वत्व पर हावी न हों।

पर आज बड़ा दुःख है कि वेदों के समुपासक अपरिग्रही, निर्लिप्सु कुम्भीमात्र धान्य पर सन्तुष्ट रहने वाले उन मनीषियों का यह आर्यावर्त देश अर्थ लिप्सा की आँधी में बुरी तरह फँस गया है। राष्ट्र के कर्णधार राष्ट्रीय धन को अपनी कुण्डली में दबोचे हुये हैं। आज राष्ट्र कंगाल कोटि में पहुँच गया है, यह किसी से छिपा नहीं है। मनुष्य की इस अर्थ लोलुपता के कारण ही दहेज प्रथा के जहर से देश का कोना-कोना व्याप्त है। सब एक दूसरे को लील जाना चाहते हैं, आज तो बहिनों की वह दुर्दशा है कि पतिदेव के जीवित रहते हुये भी उन नरपिशाचों की माँगों की पूर्ति न होने पर उस बेचारी अधखिली कली को अग्निदेव को समर्पित कर दिया जाता है, किञ्चित् हम विचार करें यह कौन सी राष्ट्रीयता है कि अपने स्वार्थ के वशीभूत हो राष्ट्रनिर्मात्री देवी के साथ ऐसे पाशविक कुकृत्य किये जायें ?

सत्य तो यह है, कि आज देश में मात्र उत्पन्न हो जाना, अथवा वहाँ की नागरिकता प्राप्त कर लेना ही राष्ट्रीयता रह गई है। वैचारिक राष्ट्रीय भावनाओं एवं कर्त्तव्यों की आवश्यकता समझी ही नहीं जाती, अतः राष्ट्रीय कहे जाने वाले उन नर पिशाचों को इन घृणित कार्यों में न तो लज्जा है, न उद्विग्नता। हम और की क्या कहें, जब कि हर सुबह समाचार पत्रों में

शासक वर्ग के अनैतिक भ्रष्टाचार-कदाचार के समाचार हमारे नन्हें-नन्हें बच्चों को पढ़ने को मिलते हैं। यदि मन्त्री, प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति जैसे उच्चपदस्थ अगुवा ही अपनी संस्कृति की खिल्ली उड़ायेंगे तो समझ नहीं आता, कि राष्ट्रीयता कहाँ पनपेगी ? आज हम अपने तात्कालिक राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति और कुर्सियों के मोह में अन्धे होकर राष्ट्र की मूलभूत समस्या को नजर अन्दाज करते चले जा रहे हैं।

महान् आश्चर्य है जिस देश की गरीबी को देखकर **यम नियमों की साधना में रत कौपीन धारी राष्ट्रपितामह जगद् गुरु महर्षि दयानन्द** ने आँसुओं से धरती के चरण पखारे हों, तथा अहिंसा के समर्थक **राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी** ने अर्धजानु धोती में ही जीवन बिताया हो, उन राष्ट्रसेवी महात्माओं के देश में आज **"मुँह में राम बगल में छुरी"** इस उक्ति के सदृश एक ओर तो मितव्ययिता के नारे लगाये जाते हैं, तो दूसरी ओर शीर्षस्थ लोगों के ही गमनागमन, नगरसज्जा, भोजनादि व्यवस्था में तथा किसी उच्चपदस्थ राजनेता के दिवंगत हो जाने पर उनके अस्थि कलशों को प्रत्येक राज्य में भेजने एवं नवनिर्वाचित मन्त्री आदि के निमित्त सुन्दर, आलीशान बंगला निर्माण आदि कार्यों में पानी की तरह राष्ट्रीय सम्पत्ति का दुरुपयोग किया जाता है, जो राष्ट्र के विकास में अनुचित तथा अत्यन्त घातक है। हम सब इसे जानते हैं कि पुनः इस अपव्यय की कसर यातायात के साधनों में करवृद्धि कर तथा नित्य उपयोग में आने वाली वस्तुओं पर टैक्स लगाकर निकाली जाती है।

अतः आज हमारा कर्त्तव्य है, कि हम अपने-अपने दायरों को सीमित कर वेदोक्त मर्यादाओं का पालन करें। अर्थलिप्सा जैसे कोढ़ के दूर होने पर ही राष्ट्र को उज्ज्वल बनाया जा सकता है। **देश को आज आवश्यकता है गुदड़ी के लाल लालबहादुर शास्त्री की तथा नीतिनिष्णात चाणक्य जैसे मन्त्री की,** जो नगर से दूर कुटिया में वास करता था, जिसके चरित्र का राष्ट्र में एक महान् आदर्श था। उस अपरिग्रही निर्लिप्सु की कुटिया का संस्कृत के महाकवि **विशाखदत्त** ने इस प्रकार वर्णन किया है-

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां,
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषा स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि–,
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।।

मुद्राराक्षस-नाटकम् अंक ३।१५।।

अर्थात् सूखे कण्डों को तोड़ने के लिए एक ओर यह पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, दूसरी ओर ब्रह्मचारियों द्वारा इकट्ठे किये हुये कुशों का ढेर लगा है, घर का छप्पर भी सूखी समिधाओं के भार से झुका हुआ है तथा उसकी दीवारें भी टूटी-फूटी दीख रही हैं।

नीतिनिपुण चाणक्य की कुटिया के वर्णन से स्पष्ट हो रहा है, कि प्रत्येक शासक को मितव्ययी होने के साथ-साथ अग्निहोत्र करने वाला होना चाहिए। वह महामन्त्री शासन के साथ-साथ अग्निहोत्र भी करता था, तभी तो समिधाओं के ढेर से उसकी कुटिया का छप्पर झुका हुआ था। चाणक्य का यह कार्य वेदानुकूल था, वेद में राष्ट्रनेता के लिए आदेश है-

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यंत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम्।।

यजु० १५।२३।।

अर्थात् **यत्र** = जब, **रजसः** = लोक का, **नेता** = नेता, राष्ट्र संचालक; **यज्ञस्य** = यज्ञ की, **भुवः** = सत्ता वाला होगा, यज्ञ करेगा तब, **शिवाभिः** = कल्याणकारी, **नियुद्भिः** = नीतियों से, **सचसे** = युक्त होगा, **मूर्द्धानम्** = सिर को, **दिवि** = द्यौलोक में, **दधिषे** = धारण करेगा, बहुत ऊँचे यश को पायेगा, **च** = और, **स्वर्षाम्** = उत्तम गति वाले, **जिह्वाम्** = जिह्वा को, **अग्ने** = वह विद्वान्, **हव्यवाहम्** = ग्रहण करने योग्य, **चकृषे** = बनाता है।

तात्पर्य हुआ जो शासक अग्निहोत्र को अपने जीवन का अङ्ग बना लेता है, वह उत्तम नेता बनता है, जैसे अग्नि उसमें दिये हुये हव्य द्रव्य को अपने पास न रखकर, जो जिसका भाग है उन पञ्चतत्वों में पहुँचा देता है, सबका

परोपकार करता है, वैसे ही अग्निहोत्र करने वाला नेता लोक संग्राहक बनता है, स्वार्थ तथा अर्थाभीप्सा से दूर रहकर राष्ट्र में कल्याणकारी नीतियों को स्थापित करता है, उसके सभी व्यवहार सर्वजनीन होते हैं, समाज में मूर्धन्य स्थान पाता है और उसकी वाणी = आज्ञा में सभी चलने वाले होते हैं।

इस प्रकार ज्ञात हुआ कि वस्तुतः ऐसा राष्ट्रनायक ही राष्ट्र की उन्नति कर सकता है, और राष्ट्रीय कहा जा सकता है, इसका हमें गहराई से चिन्तन करना चाहिए।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः।।

मनु० १२।११०।।

अर्थात् समस्त शुचिताओं में अर्थशुचिता सर्वोपरि है जो अर्थ = धन के व्यवहार में पवित्र होता है वही पवित्र है, मिट्टी या जल की पवित्रता का कोई मूल्य नहीं।।

शुचिना सत्यसन्धेन यथा शास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता।।

मनु० ७।३१।।

अर्थात् पवित्र, सदाचारी, शास्त्रानुसरण करने वाला, और श्रेष्ठ सहयोगियों वाला बुद्धिमान् शासक ही शासन करने में समर्थ होता है।

हम और हमारा संविधान
एवं हमारे मौलिक अधिकार

प्यारे बच्चो! जिस देश या राष्ट्र में स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासन होता है, वहाँ के नागरिकों का जीवन, उनकी सम्पत्ति, उनकी स्वतन्त्रता, उनका स्वत्व छिन जाता है तथा वह देश या राष्ट्र भी बिखर जाता है। उस देश या राष्ट्र को वैधानिक शासन प्रदान हेतु तथा उसकी अखण्डता एवं एकता को सुदृढ़ बनाने हेतु संविधान का निर्माण किया जाता है, जैसा कि अंग्रेजी दासता के दौरान बिखरे हुए अपने देश को भी एकसूत्र में बांधने के लिए १९४९ में बहुत सोच समझकर संविधान का गठन किया गया है।

"संविधान" शब्द का अर्थ है–

"सम्यग् रीति से संग्रह किये गये वे नियम या सिद्धान्त"

जिनके द्वारा देश के चहुँमुखी विकास के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का गठन किया जाता है, और इनके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का बोध कराया जाता है।

हम भारतीयों का संविधान स्वतन्त्र संविधान कहा जाता है, क्योंकि देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भारतीय जनता के प्रतिनिधियों ने इसका निर्माण किया है। हमारे संविधान में कई महत्वपूर्ण विशेषतायें हैं, जिनमें मौलिक अधिकारों की प्राप्ति भी अपना एक विशेष स्थान रखती है। क्योंकि मनुष्य एक चेतन संवेदनशील, बुद्धिजीवी प्राणी है अतः वह स्वतन्त्र विचरण की प्रवृत्ति रखता है, किसी के बन्धन में रहना नहीं चाहता, इन्हीं कुछ मानवोचित संवेदनाओं को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक वर्ग, स्त्री, बालक

एवं अल्पसंख्यक जनों के हितार्थ उन अधिकारों को संविधान में स्थान दिया गया है। इस सुविधा की प्राप्ति को ही **'मौलिक अधिकार'** की संज्ञा दी गयी है।

'मौलिक' शब्द मूल शब्द से जातार्थ में **'ठञ्'** प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है, और **'अधिकार'** शब्द **'अधि उपसर्ग पूर्वक कृञ्'** धातु से **'घञ्'** प्रत्यय द्वारा बना है, इस प्रकार **'मौलिक अधिकार'** शब्द का अर्थ है–

'मूल में होने वाले वे कार्य जिन पर मनुष्य का प्रभुत्व हो' जिन्हें वह बिना रोक, टोक के कर सके अर्थात् **जिनको प्राप्त करना उसका जन्मसिद्ध अधिकार होता है''** ये 'मौलिक अधिकार' ही मनुष्य जीवन के विकास की जड़ हैं, इनको प्राप्त करके ही मनुष्य शारीरिक, मानसिक, एवं आध्यात्मिक विकास द्वारा जीवन रूपी वट वृक्ष को पुष्पित, पल्लवित कर सकता है, अतएव देशवासियों की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए मौलिक अधिकारों को प्रदान करना, एवं उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करना नितान्त आवश्यक है, इनके अभाव में स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रहता है। बच्चो! इसी दृष्टिकोण को रखकर हमारे इस लोकतन्त्रात्मक[1] देश के संविधान के तृतीय भाग में छः मौलिक अधिकार गिनाये गये हैं, जिनमें पहला है–

१. समानता[2] का अधिकार

२. स्वतन्त्रता का अधिकार

३. शोषण के विरुद्ध अधिकार

---

१. लोकतन्त्र अर्थात् जो जनता का शासन हो, जनता के लिए हो, या जनता द्वारा सञ्चालित शासन हो।

२. समानता अर्थात् धर्म लिङ्ग, जाति इत्यादि किसी भी प्रकार का भेद-भाव न करते हुए, सभी को बराबरी से सरकारी नौकरियाँ, एवं सुविधा प्राप्त कराना।

४. **धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार**

५. **संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार**

६. **संवैधानिक उपचारों का अधिकार**

ये अधिकार हमारे संविधान के सबसे अधिक पवित्र तथा महत्वपूर्ण अङ्ग हैं। इन अधिकारों पर ही हमारे समूचे लोकतन्त्र की नींव टिकी हुई है, क्योंकि अधिकारों के कारण ही समाज में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनी रहती है, इसके अभाव में अशान्ति और विद्वेष की अग्नि भड़क उठती है, और कोई भी किसी का जीवन नष्ट कर देने में, पीड़ा पहुँचाने में संकोच नहीं करता है। और **"जिसकी लाठी उसकी भैंस"** वाली कहावत पूरे समाज में लागू हो जाती है, न्याय को तो कोई स्थान ही नहीं मिलता, इसलिए समाज को एक सूत्र में बांधने के लिए तथा प्रत्येक व्यक्ति को सुख पहुँचाने के लिए अधिकार एक बहुत बड़ा शस्त्र है। जैसे देखो! जीवन रक्षा के अधिकारों द्वारा मनुष्य शारीरिक विकास कर सकता है, शिक्षा और संस्कृति के अधिकारों द्वारा मानसिक विकास कर सकता है, स्वतन्त्रता के अधिकारों द्वारा सामाजिक विकास कर लेता है, वस्तुतः अधिकार ही व्यक्ति के विकास की आधारशिला है।

किन्तु बच्चो! ये अधिकार तभी तक सार्थक (कामयाब) हैं, जब प्रत्येक देशवासी अपने कर्त्तव्यों का पालन करे, क्योंकि अधिकार के साथ कर्त्तव्य जुड़ा हुआ है इन दोनों का इतना गहन सम्बन्ध है कि एक दूसरे के बिना समाजरूपी गाड़ी चल ही नहीं सकती, ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्तिगत दृष्टि से जो मेरे लिये अधिकार हैं वही सामाजिक दृष्टि से कर्त्तव्य हैं। यदि मनुष्य दूसरों से अपने प्रति समानता के व्यवहार की अपेक्षा करता है तो सबसे पहले उसका कर्त्तव्य होता है कि वह दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करे, किसी को शारीरिक हानि न पहुँचाये, किसी की स्वतन्त्रता

को न छीने, किसी का शोषण न होने दे, किसी की वैचारिक स्वतन्त्रता का हनन न करे, देश की प्रत्येक वस्तु से प्रेम करे।

इस प्रकार कहने का तात्पर्य हुआ कि अधिकारों का सही उपयोग कर्त्तव्यों के पालन पर ही निर्भर है, जैसे- प्रत्येक व्यक्ति को सड़क पर चलने का अधिकार है, लेकिन इस अधिकार का उपयोग तभी सही हो सकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति सड़क पर चलने के नियमों का पालन करे, अन्यथा यदि नियमों का पालन नहीं किया जायेगा, तो नित्य प्रति दुर्घटनायें घटेंगी, और राष्ट्र को क्षति पहुँचेगी, इस तरह अपने कर्त्तव्यों का पालन न करते हुए अपनी सुरक्षा के अधिकारों को हम अपने आप खो बैठेंगे। किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है बच्चो! कि **'कर्त्तव्य और कुछ नहीं है वरन् अधिकारों का सही उपयोग है।'**

अतः हम नागरिकों का कर्त्तव्य है कि अपने अधिकारों का बड़ी सावधानी के साथ उपयोग करें, एवं सतर्कता और लगन के साथ कर्त्तव्यों का पालन करें, तभी देश में सुख तथा शान्ति स्थापित हो सकती है[1]।

---

1. आकाशवाणी द्वारा प्रसारित-जीवन्त प्रसारण, 'बाल संघ कार्यक्रम' में बच्चों के साथ वार्ता।

मौलिक रचनायें

१. वेदबिन्दु :–
   अन्तरिक्ष वसिष्ठ ब्रह्म आदि विज्ञान
२. कल्याण सुख आनन्द के स्रोत
३. वेदादि सिद्धान्त-शंका समाधान
४. त्रिपदी गौः